



डॉ. आर. गोपीचन्द्रन

भारतीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार अकादमी (आईएसटीसी) – एक प्रस्ताव

हमारे संविधान के अनुच्छेद 51 A(h) में विज्ञान संचार की आवश्यकता पर जोर दिया गया है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी और नवाचार पर केंद्रित राष्ट्रीय नीतियां भी इसी अनुच्छेद की पुष्टि करती हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डीएसटी), भारत सरकार अपने राष्ट्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार परिषद् की गतिविधियों के माध्यम से इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। डीएसटी के स्वायत्त संस्थान विज्ञान प्रसार, सीएसआईआर के राष्ट्रीय विज्ञान संचार एवं सूचना स्रोत संस्थान और संस्कृति मंत्रालय के राष्ट्रीय विज्ञान संग्रहालय परिषद् ने भी सतत रूप से परस्पर मजबूती प्रदान कर उपरोक्त विज्ञान संचार अजेंडा के साथ जुड़कर इस कारवां को आगे बढ़ाया है। अनेक मंत्रालयों (ऊर्जा, शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, पर्यावरण, कृषि आदि) के शिक्षा और संचार से संबंधित पहल और प्रमुख उद्देश्यों में भी विज्ञान पहलुओं पर बल दिया जाने लगा है।

विकास और मिशनों व अन्य जननीति कार्यक्रमों के जरिये अहम रूप से बड़ी जन भागीदारी के मौजूदा संदर्भ में यह महत्वपूर्ण हो जाता है कि और भी अधिक मात्रा में विविधतायुक्त विषयों का विकास तथा उनकी पूर्ति करना है। इसे दशकों से एकत्र निष्कर्षों और उन्हें निर्धारित करने वाली अंतर्दृष्टियों द्वारा हासिल किया जा सकता है। मैं इस उद्देश्य हेतु तीन महत्वपूर्ण मार्ग और उससे संबंधित निष्कर्षों को प्रस्तावित करता हूँ।

(1) व्यापक विविधतायुक्त स्थानीय तौर पर विकसित करके अपनाये गये और पूरे देश में सफलतापूर्वक उपयोग किये गये ज्ञान उत्पादों का एक संग्रह या सारांश का सृजन करना। सूचना सहायता और शिक्षा के गुणों युक्त विज्ञान संचार की एक सुपरिभाषित रूपरेखा के निर्माण में इन्हें संदर्भ उदाहरण के तौर पर गूँथा जा सकता है। स्थानीय स्तरों पर संचारक जिन कौशलों से संपन्न होते हैं उन्हें प्रकाश में लाने की दिशा में इससे सहायता मिलेगी। आगे जाकर इन कौशलों को सशक्त बनाने के अवसर देना समग्र मानव एवं संस्थागत विकास प्रक्रियाओं का एक हिस्सा बन सकता है। इससे स्थानीय स्तर पर कार्यवाही सुनिश्चित की जा सकेगी। स्थानीय सुसंगति को बढ़ाने के उद्देश्य से इन बताये गये संस्थानों के वैज्ञानिकों व विज्ञान संचार विशेषज्ञों के साथ हाथ मिलाकर काम करने की तमाम सम्भावनाएँ हैं।

- अनौपचारिक सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को तेज करके औपचारिक पाठ्यक्रमों को दी जाने वाली सहायता पर तत्काल ध्यान केंद्रित किया जा सकता है। यह सबको मालूम है कि समूचे देश में बड़ी संख्या में शिक्षक नवाचारी तरीकों से बच्चों को सीखने के लिए प्रेरित करते हैं। इन विशेष योग्यताओं को उच्च प्राथमिकता से दर्ज करना अहम है।
- पानी, मिट्टी, ऊर्जा, जैवसंसाधन प्रबंधन और जीविका विकल्पों पर आधारित अनेक विकास केंद्रित समुदायजनित पहलों में सुपरिभाषित

संचार के माध्यम से कामयाबी मिली है। यह ऊपर कही बातों जितना ही महत्वपूर्ण है और इसे क्रमबद्ध रूप से दर्ज किया जाना चाहिए। यह अनेक मुख्य बातों में से केवल दो हैं।

(2) विज्ञान और प्रौद्योगिकी संचारकों का एक सुदृढ़ समुदाय (कॉस्मॉस) बनाया जाए जो विशिष्ट कौशलों और अनुभव आधारित नवाचारी संचार दृष्टिकोणों एवं नतीजों की सफलता द्वारा समर्थित हो तथा इस प्रकार के कॉस्मॉस के सदस्यों द्वारा यह कार्य सम्पन्न किया जाए। इन बातों से दो संबद्ध अहम जन नीति के लाभ उभरेंगे।

- समयबद्ध तरीके से मिशन विशिष्ट संदेशों को सम्प्रेषित करने के लिए स्थानीय कौशलों का उपयोग किया जा सकता है।
- इन कौशलों का उपयोग आईईसी (सूचना, शिक्षा और संचार) रणनीतियों के स्वरूपों एवं कार्यों से जुड़े अहम उर्ध्वमुखी केंद्रित वास्तविकता परक की जांचों को सशक्त बनाने में किया जा सकता है। यह खास तौर पर तब और महत्वपूर्ण हो जाता है जब, विशेषतः विकल्पों के बारे में, सुविचारित कार्यवाही को अंजाम देने हेतु जागरूकता तथा सूचना संबंधी सहायता अगुआई में रहते हैं।

(3) हमारे देश की विज्ञान अकादमियों के द्वारा प्रदत्त संचार से जुड़ी बहुमूल्य सेवाओं को भी मैं संज्ञान में लेता हूँ। इस प्रकार के संचार पहल का एक प्रभावी गुण नेटवर्किंग रहा है और उसके बाद वैज्ञानिक समुदायों के बीच तथा उनमें संचित ज्ञान। अकादमियों ने महत्वपूर्ण रूप से विज्ञान एवं वैज्ञानिकों के इतिहास और नीति के परिप्रेक्ष्य में उपलब्धियों पर अपना ध्यान केंद्रित किया है। आम नागरिकों सहित विज्ञान से जुड़े और विज्ञान से इतर भागीदारों हेतु संचार पर केंद्रित विज्ञान लोकप्रियकरण भी इन अकादमियों की कार्यसूची का हिस्सा रहे हैं, यह अलग बात है कि यह (विज्ञान लोकप्रियकरण) बहुत छोटे पैमाने पर हुआ है। परंतु यह समझ में आने लायक और उचित है। इस तरह इनके माध्यम से ऐसे अवसर उत्पन्न होते हैं जिनमें—

- यह पूछा जा सके कि क्या ऐसी एक अकादमी (आईएसटीसी) का सृजन किया जाना उपयुक्त होगा जो प्रबलता से असाधारण प्रयासों, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार के नतीजों और निष्कर्षों को स्वीकार करेगी। संचार के सभी माध्यमों को इस रूपरेखा में शामिल किया जा सकता है।
- तार्किक संगतता के साथ विभिन्न स्वरूपों और कार्यों में संचार को प्रेरित करने के उद्देश्य से एक सुदृढ़ मंच बनाया जा सकता है।
- बड़ी संख्या में तृणमूल स्तर के उच्च सफल व्यक्तियों की उत्कृष्टता स्वीकार की जाए और उनको मान्यता दी जाए। उपलब्धियों की पहचान और स्वीकार करने की प्रक्रिया को सुनिश्चित करने हेतु एक सुपरिभाषित प्रभाव विश्लेषण रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

संपादक	: आर. गोपीचन्द्रन
संयुक्त संपादक	: रिन्दू नाथ
प्रॉडक्शन	: मनीष मोहन गोरे एवं प्रदीप कुमार
भाषा संपादन	: रघुबर दत्त रिखाड़ी
पत्र व्यवहार का पता	: विज्ञान प्रसार, सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110 016
	दूरभाष : 011-26967532; फ़ैक्स : 0120-2404437
	ई-मेल : dream@viganprasar.gov.in
	वेबसाइट : http://www.viganprasar.gov.in

“ड्रीम 2047” में प्रकाशित लेखों/प्रलेखों में व्यक्त लेखकों के कथनों, मतों व सुझावों के लिए विज्ञान प्रसार किसी भी रूप में उत्तरदाई नहीं है।

“ड्रीम 2047” में प्रकाशित लेखों के अंश, सौजन्य/साभार के साथ पुनर्प्रकाशित/उद्धृत किए जा सकते हैं बशर्ते वे पत्र-पत्रिकाएं निःशुल्क वितरित की जा रही हों जिनमें पुनर्प्रकाशन किया जा रहा है।

विज्ञान प्रसार के लिए मनीष मोहन गोरे द्वारा सी-24, कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया, नई दिल्ली-110 016 से प्रकाशित तथा उन्हीं की ओर से अरायली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स, प्रा. लि., ओखला औद्योगिकी क्षेत्र, फेस-II, नई दिल्ली-110 020 द्वारा मुद्रित। फोन : 011-26388830-32

आईएसटीसी के इस प्रस्ताव की अभिप्रेरणा देने वाले पांच अतिरिक्त कारण:

- संचार को अक्सर एक मामूली कार्य के रूप में देखा जाता है। संचार प्रभावों के आकलन के समय सेबों और संतरों को आपस में मिला दिया जाता है। यहां पर सेबों से आशय है प्रक्रिया और संख्यायें जबकि संतरों का आशय है वांछित संचार प्रभाव तथा साथ ही साथ सुविचारित कार्यवाही। आइए विज्ञान संचार के महत्व को जाने बगैर इस दिशा में चल रहे प्रयासों को हम महत्वहीन न ठहराएं।
- संचारक दरअसल विषय विशिष्ट अकादमिक उत्कृष्टता और तृणमूल स्तर की कार्यवाही (पैकेजिंग तथा प्रेरित सुपुर्दगी सहित) जैसे दो दायरों के बीच अपने काम को अंजाम देते हैं। बाद वाले घटक को अकादमिक दृढ़ता से सामान्य तौर पर दूर हटा हुआ मान लिया जाता है। जबकि यह वास्तविकता से परे है।
- विज्ञान संचार का विज्ञान और इसकी गतिविधियां जो संचार अजेंडा को पूरा करती हैं, ये किसी भी दूसरे बौद्धिक उद्यम जितना ही सशक्त हैं। अमेरिका के नेशनल एकेडमीज आफ साइंस, इंजीनियरिंग एंड मेडिसिन के हाल ही के (इस वर्ष फरवरी में) विचार-विमर्श में यही तीन बातें प्रमुखता से निकल कर सामने आई हैं। जन नीति एवं अनुप्रयोग के महत्व और विज्ञान संचार की शोध कार्यसूची को समझने तथा उसकी सराहना के लिए किसी को रॉकेट विज्ञान जानने की आवश्यकता नहीं है।

मैं प्रकाशन "विज्ञान संस्कृति : कनाडा कहां खड़ा है" में प्रस्तुत की गई अंतर्दृष्टि तथा यूएसए के राष्ट्रीय विज्ञान प्रतिष्ठान द्वारा प्रस्तुत विज्ञान के जन बोध से संबंधित सूचकों से भी प्रेरित हूँ। पूर्ववर्ती संपादकीयों में मैंने इन संदर्भों को क्रमबद्ध ढंग से प्रस्तुत किया है।

निम्नलिखित के संबंध में अपने देश-विशिष्ट संदर्भों में अत्यंत आवश्यक सम्पूर्ण दृष्टि संपन्न निष्कर्षों के लिए हमें आनुभविक प्रमाणों की जरूरत होगी:

- संदेशों के संतत प्रवाह के लिए प्रक्रम में शामिल व्यक्तियों की संदेशों एवं अधिगमों की ग्रहण एवं आत्मसात करने तथा साधनों के उपयोग की तैयारी;
- अधिगम को ठीक जानकारी आधारित कर्मों में रूपांतरित करने वाली परिस्थितियों की दृढ़ता;
- स्थानीय स्तर पर अनुकूलित ज्ञान प्रणाली जो सामान्य जन तक पहुंचने वाले लाभों को समृद्ध कर सके और बढ़ा सके; तथा
- इन सभी से संबद्ध चुनौतियां।

ये हमारे देश की परिस्थितियों के अनुरूप भली प्रकार अनुकूलित विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार के प्रक्रमों और प्रभावों के संबंध में सैद्धांतिक ढांचे निर्मित करने और उन्हें बल प्रदान करने के लिए आवश्यक हैं।

- भारत सरकार के विभिन्न मिशन हमें उन विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार अधिगमों के आधार पर निर्माण के शानदार अवसर प्रदान करते हैं जो हमने अपने देश में पिछले कई दशकों में एकत्रित किए हैं;
- तथापि, सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि संचारकों को भी उस संचार के उद्देश्यों के विषय में स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए, जिसमें उन्हें जुटना है। केवल विज्ञान और उसकी प्रगतिशीलता के एजेंडे के प्रति ही प्रतिबद्धता रहे, यह परम महत्व की बात है। संचारक, गैर इरादतन भी कोई और एजेंडा थोप नहीं सकते। कुल मिलाकर संचार की सफलता का निर्धारण सभी स्तरों पर प्राप्त विश्वसनीयता से होता है फिर चाहे वह आनुभविक हो या वैचारिक।

प्रस्तावित आईएसटीसी की गतिविधियों के लिए सर्वप्रथम निर्देशक सिद्धांत इसकी समावेशिकता है। नीति के उद्देश्यों को अमली जामा पहनाने के लिए विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार को वह मान प्रतिष्ठा मिलनी ही चाहिए जिसका यह अधिकारी है। आईएसटीसी को अन्य अकादमियों के साथ निकट सहयोग करना चाहिए, उनके प्रयासों को दोहराए नहीं, फिर भी उनके निर्गमों

को और अधिक मूल्यवान बनाए। समावेशिकता सर्व कल्याण के मानवीय मूल्य की गुणवत्ता का सूचक होती है। इस मामले में भी विज्ञान की तरह ही स्पष्टता और परिशुद्धता के युगल मूल्यों का अनुपालन होता है। संचार के सभी क्षेत्रों के लोगों के द्वारा संचार प्रयासों में प्रदर्शित की गई श्रेष्ठता को मान्यता प्रदान की जानी चाहिए। इससे संचार प्रयास समृद्ध ही होंगे।

आईएसटीसी के तर्कसम्मत ढांचे संबंधी विस्तृत टिप्पणी इस प्राथमिक विचार का अनुसरण करेगी। यह ढांचा स्पष्ट रूप से उल्लेख करेगा :

- सभी मिशनों तथा विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी परिदृश्य के संचार अजेंडा (तथा अधूरे अजेंडा) को पारिभाषित और पूर्ण करने के अवसर को;
- विशिष्ट लक्ष्यों, अभिगमों, साधनों तथा प्रगति संसूचकों का एक सुनियोजित अनुरूपित – मानचित्र;
- अनन्य प्रकार्यों एवं ताल-मेल के माध्यम से तोरांतिक, मध्यम एवं दीर्घकालिक लाभों को;
- अकादमिक, तृणमूल स्तरीय गतिविधियों एवं नीतिगत अनुप्रयोगों के लिए एक दूसरे से प्राप्त लाभों को; तथा
- क्षेत्रीय एवं विश्वस्तरीय स्तर पर भी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार के क्षेत्र में भारत की विशिष्टताओं को समेकित करने के लाभों को।

भविष्य के नेताओं के साथ विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार करते समय उसे अधिकाधिक परिशुद्ध एवं प्रेरणादायक बनाने की आवश्यकता तो है लेकिन इसे केवल बाल-केन्द्रित रखकर संचार का अति सरलीकरण भी नहीं किया जा सकता। यह संपादकीय इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करता है कि विज्ञान संचार नियोजन के उन सभी स्तरों और क्षेत्रों में होता है जिनमें विज्ञान और प्रौद्योगिकी के माध्यम से किए गए विकास द्वारा जीवन की गुणवत्ता निर्धारित होती है। यहां मुझे यह बताना आवश्यक लगता है कि मैं संचार का कोई थुलथुल सर्वसमाहक वैश्विक परिदृश्य प्रस्तुत नहीं कर रहा हूँ। मैं केवल इस तथ्य पर बल दे रहा हूँ कि हमें सभी स्तरों पर समान उत्साह के साथ कार्य करना है।

मैं इस अवसर का उपयोग यह कहने के लिए भी करना चाहता हूँ कि मैं इस संपादकीय की विषय-वस्तु में विशेष रुचि दिखाने के लिए श्री सोमेश झिंगन, श्री कपिल त्रिपाठी, श्री निमिष कपूर, श्री बिरेंदर त्यागी, डा. भारत भूषण, श्री मनीष मोहन गोरे तथा श्री इन्दरजीत सिंह का सचमुच आभारी हूँ। वे विज्ञान प्रसार में मेरे सहकर्मी हैं तथा संघर्षों और परीक्षाओं के दौर में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचार गतिविधियों के अग्रिम मोर्चे पर अपनी सेवाएं दे रहे हैं।

यह संपादकीय उन सभी विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संचारकों को समर्पित है जिनके दशकों के प्रयासों ने इस आवाहन के लिए संदर्भ निर्मित किए हैं। इसमें वे सब भी शामिल हैं, जिनका उल्लेख मैंने ऊपर किया है। हमारे देश ने उच्च प्रेरित संचारकों के लिए श्रेष्ठ वास्तविकतापूर्ण अवसर प्रदान किये हैं और इनकी एक लगातार बढ़ती हुई श्रृंखला जारी है। ऊर्ध्वमुखी वास्तविकताओं की जांच, जिस रूप में ऊपर परिभाषित की गई है, इन प्रयासों के मूल्य में वृद्धि करेगी और इस महत्वपूर्ण जन-नीति साधन की प्रतिष्ठा बढ़ाएगी।

विज्ञान संचार और संचारकों के महत्व को हल्के में नहीं लिया जा सकता। समय आ गया है कि हम अपने प्रयासों को और अधिक दृश्यता तथा प्रभावों के साथ संरेखित करें। आईएसटीसी (जब भी यह अस्तित्व में आए) इन प्रयासों को और अधिक प्रेरित करेगा। आईएसटीसी के कर्मों और उपक्रमण सीधे सीधे संचार गतिकी संबंधी व्यक्ति की अपने स्वयं के बोध और इसके प्रभावों की सीमाओं और परिसीमाओं को परिभाषित करेंगे जिससे आत्मप्रशंसा से बचा जा सके। फिलहाल यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति होगी। भारत के संविधान में इस संदर्भ में जिन कर्तव्यों का आवाहन किया गया है, हम उनका भी अनुसरण करेंगे तथा संभवतः और अधिक दृढ़ता के साथ ऐसा करेंगे।

Email: r.gopichandran@vigyanprasar.gov.in

(अनुवाद: मनीष मोहन गोरे एवं रामशरण दास) ■

विलियम रैम्जे

उत्कृष्ट गैसों के खोजकर्ता



डॉ. सुबोध महंती

ई-मेल: subodhmahanti@gmail.com

“इसे पूर्ण निश्चितता के साथ नहीं कहा जा सकता कि कोई भी तत्व आर्गन के साथ संयोग नहीं करेगा; लेकिन कम-से-कम यह असंभावित लगता है कि इससे किसी भी यौगिक का निर्माण होगा।”

—विलियम रैम्जे द्वारा ‘गैसेस ऑफ द एटमॉस्फियर’ (1896) में दिया गया उपर्युक्त कथन एक सदी से भी अधिक समय तक सत्य ही रहा जब तक कि अगस्त 2000 में आर्गन का प्रथम यौगिक, आर्गन फ्लोरोहाइड्राइड, नहीं बन गया; लेकिन यह 40 केल्विन या -233 डिग्री सेल्सियस से नीचे के ताप पर ही स्थाई होता है।

“जांच-परख और असफलता ही उन्नति के मूल में हैं; सफलताओं की तुलना में सामान्यतः एक हजार गुना अधिक असफलताओं से दो चार होना पड़ता है; बावजूद इसके इनका लेखा-जोखा नहीं रखा जाता है। इसका कारण यह है कि संधानकर्ता को यह लगता है कि भले ही वांछित परिणाम को प्राप्त करने में उसके हाथ असफलता लगी हो, किसी अन्य अधिक भाग्यशाली प्रयोगकर्ता को सफलता हासिल हो सकती है, और (इसलिए) उसके प्रयासों को निरुत्साहित करने में बुद्धिमानी नहीं है।”

— ‘रेडियम एंड इट्स प्रोडक्ट्स’, हार्पर मैगजीन, दिसंबर 1904 में विलियम रैम्जे

‘रैम्जे को वर्ष 1904 के रसायनविज्ञान का नोबेल पुरस्कार मिला था। वह एकमात्र ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने तत्वों के संपूर्ण आवर्त वर्ग की खोज की। लोग उन्हें बहुत पसंद करते थे तथा किसी साथी वैज्ञानिक के साथ मिलकर ही उन्होंने अपने सभी उत्तम कार्यों को अंजाम दिया।”

— द केंब्रिज डिक्शनरी ऑफ साइंटिस्ट्स (द्वितीय संस्करण), 2002

विलियम रैम्जे उन्नीसवीं सदी के अंतिम काल के विश्व के प्रमुख वैज्ञानिकों में से एक थे। उल्लेखनीय है कि उन्नीसवीं सदी का अंतिम दशक एक ऐसा समय था जिसमें भौतिक एवं रसायन विज्ञान में अनेक मुख्य खोजें हुईं। सन् 1869 में रूसी रसायनविज्ञानविद दमित्री इवानोविच मेंडेलीव (1834-1907) ने आवर्त सारणी का संरूपण किया; सन् 1895 में जर्मन भौतिकीविद विल्हेल्म कॉनरेड रूटगेन (1845-1923) ने एक्स-किरणों की खोज की; सन् 1896 में फ्रांसीसी रसायनविज्ञानी एंटोनी हेनरी बैकेरल (1852-1908) ने रेडियोएक्टिवता की खोज की; तथा सन् 1897 में ब्रिटिश भौतिकीविद जोसेफ जॉन थॉमसन (1856-1940) ने इलेक्ट्रॉन की खोज की। रैम्जे ने सन् 1894-1898 के दौरान उत्कृष्ट शोधकार्य भी किया। वह अपने पुरोगामी कार्य के लिए जाने जाते हैं जिसने आवर्त सारणी में एक संपूर्ण नए वर्ग की स्थापना की। सन् 1894 में ब्रिटिश भौतिकीविद जॉन विलियम स्ट्रट, जो लॉर्ड रैले (1842-1919) के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं, के साथ मिलकर उन्होंने आर्गन (ग्रीक भाषा में जिसका अर्थ है ‘निष्क्रिय’) की खोज की घोषणा की। सन् 1895 में उन्होंने हीलियम को पृथक किया। खनिज क्लेवाइट से उत्सर्जन द्वारा हीलियम को पृथक करने वाले रैम्जे पहले व्यक्ति थे। हीलियम को तीस वर्ष पूर्व, एक सूर्य ग्रहण के दौरान पहले-पहल नॉर्मन लॉकयर तथा एल्बर्ट फ्रैंकलैंड ने सूर्य के वर्णक्रम में प्रेक्षित किया था। रैम्जे ने यह भी प्रदर्शित किया कि रेडियम के रेडियोएक्टिव क्षय के दौरान हीलियम तत्व की लगातार उत्पत्ति हो रही



विलियम रैम्जे

थी। सन् 1898 में रैम्जे ने ब्रिटिश रसायनविद मॉरिस विलियम ट्रेवर्स (1872-1961) के साथ संयुक्त रूप से तीन तत्वों को द्रवित वायु से पृथक किया। ये तीनों तत्व थे नियोन (ग्रीक भाषा में जिसका अर्थ ‘नया’ है), क्रिप्टन (ग्रीक भाषा में जिसका अर्थ ‘प्रच्छन्न’ या ‘छिपा हुआ’ है) तथा जीनॉन (ग्रीक भाषा में जिसका अर्थ ‘अजनबी’ है)। इन तत्वों को निष्क्रिय, विरल या उत्कृष्ट गैसों की संज्ञा दी जाती है। रैम्जे ने यह प्रस्तावित किया कि पांच नई गैसें आवर्त सारणी में एक नया वर्ग बनाती हैं।

सन् 1910 में रैम्जे ने रेडियोएक्टिव उत्सर्जनों में उत्कृष्ट गैसों में अंतिम गैस रेडॉन (तब इसका नाम ‘नाइटन’ था) की मौजूदगी का पता लगाया। रैम्जे ने ब्रिटिश रसायनविद फ्रेडरिक सॉंडी (1877-1956) के साथ संयुक्त रूप से यह खोज की कि हीलियम की उत्पत्ति रेडियम के रेडियोएक्टिव क्षय के दौरान हुई थी। नाभिकीय अभिक्रियाओं संबंधी आधुनिक समझ के लिए यह खोज परम महत्व की थी। फ्रेडरिक अर्नेस्ट डॉर्न (1848-1916), जो एक जर्मन रसायनविद थे, ने ही सन् 1900 में रेडॉन की खोज की थी लेकिन यह प्रदर्शित करने के लिए कि यह अन्य उत्कृष्ट गैसों के उसी कुल से संबंध रखती है रैम्जे को इसे पर्याप्त परिमाण में प्राप्त करने में सफलता मिली।

परमाणुओं की इलेक्ट्रॉनिक संरचना तथा इलेक्ट्रॉन परमाणुओं को कैसे बांधे रखते हैं, इसकी मूल समझ रैम्जे ने हमें प्रदान की। उन्हें वर्ष 1904 का रसायनविज्ञान का नोबेल पुरस्कार ‘वायु में निष्क्रिय गैसीय तत्वों की खोज तथा आवर्त प्रणाली में उनकी स्थिति के निर्धारण संबंधी उनकी सेवाओं के लिए’ प्रदान किया गया। रसायनविज्ञान में नोबेल पुरस्कार पाने वाले वह ग्रेट ब्रिटेन के पहले व्यक्ति थे। उल्लेखनीय है कि ग्रेट ब्रिटेन के ही एक अन्य वैज्ञानिक लॉर्ड रेले, जिन्होंने रैम्जे को उस कार्य को करने के लिए प्रेरित किया था जिसकी परिणति उत्कृष्ट गैसों की खोज के रूप में हुई, को उसी वर्ष भौतिकी का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

सिवाय आर्गन के सभी उत्कृष्ट गैसों अति विरल हैं। वायु में आर्गन 1 प्रतिशत से भी कम परिमाण में मौजूद है। हालांकि पृथ्वी पर हीलियम नहीं पाया जाता लेकिन ब्रह्मांड में (हाइड्रोजन के बाद) यह दूसरा सबसे अधिक पाया जाने वाला तत्व है। रेडॉन को छोड़कर (जो रेडियोएक्टिव है) उत्कृष्ट गैसों का उपयोग विसर्जन एवं स्फुरदीप्तिशील नलिकाओं में



फ्रेडरिक सॉडी

तथा ऐसे कामों के लिए होता है जिनके लिए निष्क्रिय वायुमंडल की आवश्यकता होती है। द्रव अवस्था में हीलियम का प्रयोग एक निम्नतापी पदार्थ (क्राइओजेन) यानी एक चरम प्रशीतक के रूप में होता है। द्रव हीलियम अब तक ज्ञात सबसे कम क्वथनांक (-269 डिग्री सेल्सियस) वाला द्रव है। रासायनिक रूप से उत्कृष्ट गैसों सर्वाधिक अनभिक्रियाशील तत्वों की श्रेणी में आती हैं। रासायनिक आबंधन



लॉर्ड रैले

के आरंभिक सिद्धांतों में इनकी निष्क्रियता की महत्वपूर्ण भूमिका थी, जिससे रासायनिक आबंधन के 'अष्टक नियम' की स्थापना हुई। हीलियम का इलेक्ट्रॉनिक अभिविन्यास $1s^2$ है तथा अन्य उत्कृष्ट गैसों के अभिविन्यास ns^2np^6 से समाप्त होते हैं, इनके आंतर कोष पूर्णतः अध्यासित होते हैं। इस प्रकार ये तत्व, आवर्तक के समापन को निरूपित करते हैं तथा इनमें संवृत-कोष अभिविन्यास मौजूद होता है। साथ-साथ उच्च आयनन ऊर्जाओं तथा रासायनिक अभिक्रियाशीलता के अभाव से भी ये अभिलक्षणित होते हैं। अमेरिकी रसायनविद कार्ल लाइनस पॉलिंग (1901-1994) ने ही सन् 1933 में सबसे पहले अपना यह सुझाव रखा था कि उत्कृष्ट गैसों के यौगिकों का निर्माण संभव होना चाहिए। सन् 1962 में नील बार्टलेट ने पहले उत्कृष्ट गैस यौगिक जीनॉन हेक्साफ्लोरोप्लेटिनेट ($XePtF_6$) को संश्लेषित किया। अब तो अधिकतर उत्कृष्ट गैसों के यौगिक बन चुके हैं।



फ्रेडरिक अर्नेस्ट सॉडी

रैम्जे का आरंभिक कार्य कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में था। उन्होंने एल्केलाइडों की कार्यात्मक क्रिया का अध्ययन किया तथा पिरिडीन, जो एक नाइट्रोजन युक्त यौगिक है तथा रासायनिक संरचना में बेंजीन से गहरी समानता रखता है,

से इसके सह-संबंध को भी स्थापित किया। जॉन शील्लडस के साथ संयुक्त रूप से उन्होंने आण्विक पृष्ठीय ऊर्जा के ताप के साथ परिवर्तन दर की स्थिरता संबंधी रोलैंड इओवॉस नियम को स्थापित किया।

विलियम रैम्जे का जन्म 2 अक्टूबर 1852 को स्कॉटलैंड स्थित ग्लासगो में हुआ था। उनके पिता, जिनका नाम भी विलियम रैम्जे था, एक सिविल इंजीनियर थे। उनकी माता का नाम कैथरीन रैम्जे (विवाह पूर्व

रॉबर्टसन) था। उनके दादा एक रासायनिक निर्माता थे। वह एंड्रू रैम्जे, जो यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ लंदन में भूविज्ञान के प्रोफेसर थे तथा जो बाद में भूवैज्ञानिक सर्वेक्षण के महानिदेशक बने, के भतीजे थे। उनके नाना पेशे से एक चिकित्सक थे। रैम्जे को अपने वैज्ञानिक विरासत वाले परिवार पर गर्व था। अपने नोबेल व्याख्यान में उन्होंने कहा, मेरे

दादा विलियम रैम्जे ग्लासगो में एक रासायनिक निर्माता थे। वह रंगरेजों की जमात से संबंधित थे जो स्कॉटलैंड के पूर्व में स्थित हैडिंग्टन नामक एक छोटे काउंटी शहर में काम करते थे... मेरे नाना पेशे से एक चिकित्सक थे एडिनबर्ग जिनकी कार्य स्थली थी। चिकित्सा विज्ञान की पढ़ाई करने वाले विद्यार्थियों के लिए उन्होंने अपनी पाठ्यपुस्तकें लिखी थीं... इस प्रकार रसायनविज्ञान में अपनी रुचि अपने माता-पिता दोनों तरफ के पूर्वजों

से ही मुझे विरासत में मिली थी।

रैम्जे ने ग्लासगो एकेडेमी से अपनी सेकेंडरी कक्षा की शिक्षा पूरी की और सन् 1866 में उन्होंने यूनिवर्सिटी ऑफ ग्लासगो में प्रवेश लिया। बहुत कम उम्र में ही रसायनविज्ञान में उनकी रुचि उत्पन्न हुई। आठ वर्ष की आयु में, जब वह एक स्थानीय प्रारंभिक स्कूल में अध्ययनरत थे, फुटबाल खेलते हुए उन्होंने अपनी एक टांग तुड़वा ली थी और इस टांग के जख्म के भरते समय ही रसायनविज्ञान के प्रति उनका आकर्षण उत्पन्न हुआ था। उन्होंने कहा, "स्वास्थ्य लाभ करते समय मैंने ग्राहम रचित रसायनविज्ञान का अध्ययन किया। मुझे स्वीकारना चाहिए कि ऐसा मैंने मुख्य रूप से इसलिए किया क्योंकि पटाखे कैसे बनते हैं मैं इसे जानना चाहता था। मुझे याद है मेरे पिता ने मुझे अत्य परिमाण में

पोटेशियम क्लोरेट, फॉस्फोरस, सल्फ्यूरिक अम्ल तथा कुछ छोटे प्लास्क एवं बीकरों के साथ एक स्पिरिट लैंप भी दिया था और इस तमाम ताम-झाम की मदद से कई-कई महीनों तक मैंने अपना मनोरंजन किया।"

ग्लासगो यूनिवर्सिटी में अध्ययन करते समय उन्होंने कुछ समय के लिए रसायनविज्ञान में प्रायोगिक अनुभव लेने के लिए शहर के रासायनिक विश्लेषक रॉबर्ट टैटलॉक की प्रयोगशाला में काम किया। सन् 1870 में उन्होंने बिना कोई डिग्री लिए



कार्ल लाइनस पॉलिंग

ग्लासगो यूनिवर्सिटी को छोड़ दिया। उनकी मूल योजना यूनिवर्सिटी ऑफ हाइडेलबर्ग में प्रसिद्ध जर्मन रसायनविद रॉबर्ट बुन्सेन के साथ काम करने की थी। लेकिन, वह अपनी मूल योजना के साथ नहीं टिके और छह महीनों बाद यूनिवर्सिटी ऑफ ट्यूबिंजेन में जर्मन रसायनविद रुडॉल्फ फिटिंग (1835-

1910) के शोध निर्देशन में उन्होंने एक डॉक्टरल छात्र के रूप में कार्य करना आरंभ किया। रुडॉल्फ फिटिंग मुख्य रूप से पिनैकॉल-युग्मन अभिक्रिया, जिसमें एक कार्बोनाइल यौगिक के अपचायक सम-युग्मन से सममितियतः प्रतिस्थापित 1, 2 डाइऑल उत्पन्न होता है, की खोज के लिए प्रसिद्ध थे। सन् 1872 में रैम्जे को डॉक्टरेट की उपाधि मिली।

सन् 1872 में स्कॉटलैंड लौटने के बाद रैम्जे ने अपने मूल शहर ग्लासगो स्थित एंडरसन कॉलेज के रसायनविज्ञान विभाग में एक ट्यूटोरियल



राबर्ट बुन्सेन

सहायक की नौकरी कर ली और इसके दो वर्ष बाद वह ग्लासगो यूनिवर्सिटी इसी पद की नौकरी के लिए गए। सन् 1880 में यूनिवर्सिटी कॉलेज, ब्रिस्टल में वह प्राचार्य तथा रसायनविज्ञान के आचार्य के रूप में नियुक्त हुए। सन् 1887 में यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन में रैम्जे अकार्बनिक रसायनविज्ञान की पीठ के लिए नियुक्त हुए। इससे पहले ब्रिटिश रसायनविद एलेक्जेंडर विलियम विलियमसन (1824-1904) इस पीठ की शोभा बढ़ा रहे थे जो सोडियम एल्कोहॉलेट की हैलोएल्केन से अभिक्रिया द्वारा ईथर बनाने की विलियमसन संश्लेषण नामक विधि के लिए जाने जाते हैं। रैम्जे इस पीठ की सन् 1913 तक सेवानिवृत्त होने तक शोभा बढ़ाते रहे।

कार्बनिक रसायन के क्षेत्र में लगभग एक

दशक (1970-79) तक कार्य करने के बाद रैम्जे की रुचि भौतिक रसायन में हुई। भौतिक रसायन के क्षेत्र में उनके योगदान अधिकतर रससमीकरणमिति (स्टाइकियोमीट्री) और ऊष्मागतिकी पर थे। लेकिन, अकार्बनिक रसायन में ही उन्होंने अपनी जानी-मानी खोजों को अंजाम दिया।

सन् 1892 में लॉर्ड रैले (1842-1919) ने रसायनविदों के सामने इस खुले प्रश्न को रख कर कि रासायनिक यौगिकों में मौजूद नाइट्रोजन तथा वायु में मौजूद मुक्त नाइट्रोजन के परमाणु भारों में अंतर क्यों है, इसे समझाने की उन्होंने पेशकश की। रैले यह प्रदर्शित कर चुके थे कि वायु से विमुक्त किया गया नाइट्रोजन रासायनिक रूप से उत्पन्न नाइट्रोजन की तुलना में 5 प्रतिशत अधिक भारी था। रैम्जे ने इसके कारण की व्याख्या के लिए चुनौती स्वीकार कर ली। रैले की मूल धारणा यह थी कि रासायनिक रूप से संश्लेषित नाइट्रोजन संभवतः किसी हल्की गैस से संदूषित थी। रैम्जे ने सोचा कि वायु में किसी ऐसे तत्व की मौजूदगी, जिसके बारे में पहले जानकारी नहीं थी, ही इसका कारण थी। इसके परीक्षण के लिए उन्होंने तप्त मैग्नीशियम से होकर नाइट्रोजन गैस को प्रवाहित किया जिसने धीरे-धीरे इसे अवशोषित कर लिया (चूंकि तप्त मैग्नीशियम नाइट्रोजन से अभिक्रिया करके मैग्नीशियम नाइट्राइड बनाता है) और उन्हें निष्क्रिय तत्व के रूप में एक नया सघन, एकपरमाणुक गैस प्राप्त हुआ। बाद में विलियम क्रूक्स द्वारा इस गैस की पहचान एक नए तत्व के रूप में हुई। रैले और रैम्जे द्वारा आर्गन की खोज की घोषणा सन् 1898 में हुई।

रैम्जे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने तत्वों के आवर्त वर्गीकरण पर आधारित पुस्तकें लिखीं। इन पुस्तकों के शीर्षक थे - 'ए सिस्टम ऑफ इनआर्गनिक कैमिस्ट्री' तथा 'एलीमेंटरी सिस्टेमेटिक कैमिस्ट्री फॉर द यूज ऑफ स्कूल्स एंड कॉलेजेस' (दोनों पुस्तकें सन् 1891 में प्रकाशित हुईं)। उनके द्वारा लिखी गई अन्य पुस्तकों में शामिल हैं - द गैसेस ऑफ द एटमॉस्फियर (1896); मॉडर्न कैमिस्ट्री, 2 खंड (1900); इंद्रोडक्शन टू द स्टडी ऑफ फिजिकल कैमिस्ट्री (1904), ऐसेज बायोग्राफिकल एंड कैमिकल (1908) तथा एलीमेंट्स एंड इलेक्ट्रॉन्स (1913)।

यूनिवर्सिटी कॉलेज, लंदन से औपचारिक रूप से सेवानिवृत्त होने

के बाद रैम्जे बकिंगहमशायर चले गए और वहां एक निजी प्रयोगशाला में उन्होंने काम करना शुरू किया। सन् 1914 में प्रथम विश्वयुद्ध छिड़ जाने पर उन्होंने सरकारी विज्ञान नीति के सृजन में वैज्ञानिकों की भागीदारी निश्चित करने की दिशा में प्रयास किए। रैम्जे एक प्रतिभाशाली भाषाविद थे तथा उन्हें यात्रा करना पसंद था।

जमशेदजी नुस्सेरवानजी टाटा (1839-1904), जो एक औद्योगिक पुरोगामी तथा एक पहुंचे हुए भविष्यदृष्टा थे, द्वारा बंगलुरु में भारतीय विज्ञान संस्थान की स्थापना में रैम्जे ने एक परामर्शदाता का काम किया। इस काम के लिए 7 दिसंबर 1900 को वह भारत आए और यहां ढाई महीने बिताए। देश के विभिन्न शहरों मुंबई, पुणे, बंगलुरु, चेन्नई, कोलकाता, पटना, वाराणसी, इलाहाबाद, कानपुर, रुड़की, लखनऊ, आगरा, दिल्ली तथा बड़ोदरा स्थित चौदह शैक्षिक केंद्रों का उन्होंने दौरा किया। उन्होंने कुछ उद्योगों का भी दौरा किया। उन्होंने इस पर



रुडॉल्फ फिटिंग

“रिपोर्ट ऑन एन इंस्टीट्यूशन टू बी नेम्ड द इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ रिसर्च” शीर्षक से एक प्रस्तुति भी दी। रैम्जे ने ही प्रस्तावित संस्थान की स्थापना के लिए सर्वाधिक उपयुक्त स्थान के रूप में बंगलुरु का सुझाव रखा था।

रैम्जे सन् 1888 में रॉयल सोसायटी ऑफ लंदन के फेलो निर्वाचित हुए तथा सन् 1902 में उन्हें 'नाइट' की उपाधि दी गई। वह कैमिकल सोसायटी ऑफ लंदन (1907-09) तथा ब्रिटिश एसोसिएशन फॉर द एडवांसमेंट ऑफ साइंस (1911) के अध्यक्ष भी रहे। सन् 1902 में उन्हें के सी बी (नाइट कमांडर ऑफ द ऑर्डर ऑफ बाथ) की पदवी दी गई तथा उन्हें नाइट ऑफ द प्रशियन ऑर्डर, 'पोर ले मेरिट', कमांडर ऑफ द क्राउन ऑफ इटली तथा ऑफिसर ऑफ द लेजन द'ऑनर ऑफ फ्रांस की पदवियों से भी नवाजा गया था। उन्हें रॉयल सोसायटी ऑफ लंदन का डेवी पदक तथा रॉयल सोसायटी कैमिस्ट्री ऑफ लंदन का लॉन्गस्टाफ पदक भी मिला था। इसके अलावा उन्हें बारनार्डो पदक, स्मिथसोनियन इंस्टीट्यूट से 5,000 अमेरिकी डॉलर का पुरस्कार तथा ए. डब्ल्यू



मॉरिस विलियम ट्रेवर्स

वान हॉफमैन गोल्ड मेडल (बर्लिन, 1903) भी प्राप्त हुए।

23 जुलाई 1916 को बकिंगहमशायर, इंग्लैंड में रैम्जे की मृत्यु हुई। वह 63 वर्ष के थे। विलियम रैम्जे के सम्मान में यूनिवर्सिटी ऑफ ग्लासगो, जहां उन्होंने अध्ययन एवं अध्यापन भी किया था, ने रसायनविज्ञान में रैम्जे पीठ की स्थापना की। सन् 1923 में यूनिवर्सिटी कॉलेज ऑफ लंदन ने रैम्जे स्मृति पदक की स्थापना की। सन् 1976 में बकिंगहमशायर में रैम्जे के नाम से एक स्कूल (सर विलियम रैम्जे स्कूल) भी खोला गया। एक चंद्र संघट्ट विवर का नाम रैम्जे के नाम पर रखा गया है।

रैम्जे पर इस संक्षिप्त आलेख को उनकी ही एक उक्ति से समाप्त करना समीचीन होगा: “दरवाजों के भीतर दिमाग का सबसे उत्कृष्ट व्यायाम, जो गुणवत्तायुक्त किसी व्यक्ति के लिए सबसे उपयुक्त है, अध्ययन है।”

संदर्भ

1. 100 ईयर्स विद् नोबेल लिटरेचर, नई दिल्ली: एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, 2001।
2. अ डिक्शनरी ऑफ साइंटिस्ट्स, ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999।
3. चैम्बर बायोग्राफिकल डिक्शनरी (शताब्दी संस्करण) न्यूयार्क: चैम्बरस् हैरप पब्लिशर्स लिमिटेड, 1997।
4. द कैम्ब्रिज डिक्शनरी ऑफ साइंटिस्ट्स (द्वितीय संस्करण) कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 2003।
5. ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी ऑफ साइंस, ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1999।
6. सुब्बारयपा, बी.वी., इन परस्यूट ऑफ एक्सिलेंस: अ हिस्ट्री ऑफ द इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस, नई दिल्ली: टाटा मैकग्रा-हिल पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड, 1992।
7. इंटरनेट पर उपलब्ध सभी स्रोत।

(यह लेख वर्तमान साहित्य में उपलब्ध विलियम रैम्जे के जीवन एवं कार्य संबंधित महत्वपूर्ण बिंदुओं पर एक लोकप्रिय प्रस्तुति है। इसके पीछे की अवधारणा युवा पीढ़ी को रैम्जे के बारे में और अधिक जानने के लिए प्रेरित करना है। लेखक ने इस लेख को लिखने में अनेक स्रोतों का अध्ययन किया। लेकिन, इंटरनेट पर दिए गए स्रोत असंख्य हैं और इसलिए उनका संदर्भ अलग से नहीं दिया गया है। लेखक उन सभी लेखकों का आभारी है, इस लेख को तैयार करने में जिनके कार्यों ने अपना योगदान दिया।)

(अनुवाद: आभास मुखर्जी) ■

स्तंभ कोशिका चिकित्सा: प्रतिपूर्ति का अवसर



सुश्री आइशा सल्दान्हा



डॉ एन. के. जोशी

ई-मेल: aishasaldanha99@gmail.com,
Neelima.joshi@glenmarkpharma.com

स्तंभ कोशिकाएं मानव शरीर में पायी जाने वाली आधारभूत एवं मूल कोशिकाएं होती हैं। वे अविशेषीकृत कोशिकाएं होती हैं और इसीलिए किसी भी प्रकार की कोशिकाओं में विकसित हो सकती हैं। यह गुण इस वास्तविकता के कारण होता है कि विशिष्ट जीनों को किसी भी विशिष्ट काम को करने के लिए अभिव्यक्त या प्रेरित नहीं किया जा सकता। स्तंभ कोशिकाएं अनेक अंगों में मिलती हैं और सामान्य अंगों के विकास एवं इसकी संरचना तथा क्रिया को बनाए रखने के लिए इनकी आवश्यकता होती है। स्तंभ कोशिकाओं के दो विलक्षण गुण होते हैं: स्व-नवीनीकरण की उच्च क्षमता और बहु-वंशीय विभेदन की संभावना। एक ही कोशिका में दोनों अभिलक्षण, उन्हें ऐसे रोगों के उपचार के लिए आकर्षक बना देते हैं जहां अंग की खत्म हो गयी संरचना और क्रियात्मकता को पुनःप्राप्त करना हो।

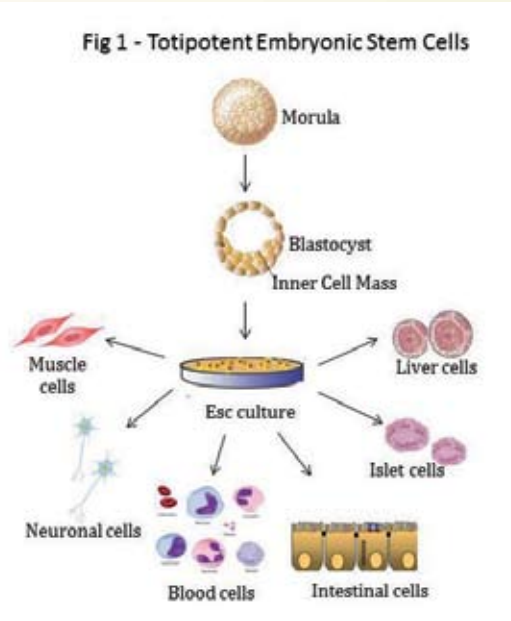
क्या होती हैं स्तंभ कोशिकाएं

अपने उद्भव के आधार पर स्तंभ कोशिकाएं दो प्रकार की होती हैं – भ्रूणीय स्तंभ कोशिकाएं (ESCs) और वयस्क स्तंभ कोशिकाएं (ASCs)। भ्रूणीय स्तंभ कोशिकाएं, जैसा कि नाम से पता चलता है, भ्रूण से मिलती हैं। वे, वयस्क स्तंभ कोशिकाओं के विपरीत, शरीर में प्रभावी रूप से किसी भी प्रकार की कोशिका में वयस्क हो सकती हैं, क्योंकि वे विशिष्ट कोशिकाओं में विकास हेतु विशिष्टीकरण की अवस्था तक नहीं पहुंची होती हैं, जिससे भ्रूणीय अंगों का विकास होता है। इसलिए उन्हें 'टोटीपोटेन्ट' कहते हैं। वे तेजी से बढ़ सकती हैं और इसीलिए बीमारियों के परिणामस्वरूप क्षतिग्रस्त हो गए विभिन्न ऊतकों की मरम्मत में अत्यंत उपयोगी होती हैं। उनकी उत्कृष्ट टोटीपोटेन्सी के कारण भ्रूणीय स्तंभ कोशिकाओं का प्रयोग करके अनेक मानवीय क्लीनिकल परीक्षण चल रहे हैं।

हालांकि, भ्रूणीय स्तंभ कोशिकाओं के प्रयोग से संबंधित कुछ नैतिक प्रश्न भी हैं। पहला, यह डर है कि स्तंभ कोशिकाओं को प्राप्त करने के लिए लोग भ्रूण को मार देंगे। यद्यपि, ESCs को वहां पर आईवीएफ क्रियाविधि से बड़ी मात्रा में प्राप्त किया जाता है जहां अतिरिक्त अंडाणुओं का प्रयोग किया जाता है, इस पर एक बड़ा विरोधाभास है, विशेष रूप से धर्म के संबंध में, जहां लोगों का मानना है कि भ्रूण एक व्यक्ति है या उसमें आत्मा होती है। दूसरा, प्रयोगशाला में भ्रूण

बनाना (परखनली शिशु) अनैतिक समझा जाता है और समाज इसका विरोध करता है, यद्यपि आज विज्ञान प्रगतिशील है और इन भ्रूणों की बहुत आवश्यकता है। उनका विश्वास तर्कसंगत है क्योंकि ये भ्रूण किसी के शिशु हो सकते हैं, भले ही वे इनकी परवाह न करें। यहां तक कि पशु भ्रूणों के उपयोग से भी लोग खुश नहीं हैं।

इसके अतिरिक्त, इन स्तंभ कोशिकाओं के उपयोग से संबंधित और खतरे भी हैं। पहला, भ्रूणीय स्तंभ कोशिकाओं में व्यापक वृद्धि की संभावना होती है, ये तेजी से विभाजित हो सकती हैं और तेजी



से वर्धित हो सकती हैं। इसलिए, वे ट्यूमर में भी विकसित हो सकते हैं या रोगी पर विपरीत प्रभाव हो सकते हैं। दूसरा, अगर मौजूदा शारीरिक कोशिकाएं बाहरी स्तंभ कोशिकाओं को नहीं पहचानती तो इनके अस्वीकृत हो जाने के भी अवसर होते हैं। ऐसा प्रतिरक्षी तंत्र द्वारा इन कोशिकाओं पर आक्रमण होने के कारण हो सकता है और रोगी खतरे में पड़ सकता है।

वयस्क स्तंभ कोशिकाएं, जिन्हें मिजेनकाइमल स्तंभ कोशिकाएं (MSCs) भी कहते हैं, अनेक मानव अंगों/शरीर द्रवों में पाई जाती हैं और इन्हें सीधे ही इन ऊतकों से प्राप्त किया जा सकता है। इन्हें नाभि रज्जु के रक्त (CBSCs), अस्थि मज्जा (BMSCs), एडीपोज ऊतक (ADMSCs), बाह्य रक्त (PBMSCs) तथा अन्य अनेक जगहों से प्राप्त किया जा सकता है। वे ESCs की तरह

विभिन्न प्रकार की कोशिकाओं में विकसित नहीं हो सकतीं।

इनमें से कुछ बहुत कम संख्या में और ऊतकों की गहराई में मौजूद होती हैं, इसलिए इन्हें प्राप्त करना आसान नहीं होता। हालांकि, अब यह व्यापक रूप से मान लिया गया है कि एडीपोज ऊतक (संग्रहित वसा युक्त शारीरिक ऊतक जो ऊर्जा स्रोत की तरह काम करता है) वयस्क स्तंभ कोशिकाओं का प्रचुर स्रोत है। लाइपोसक्शन क्रियाविधियों (ऊतक को चूषण विधि द्वारा त्वचा के नीचे से निकाला जाता है) से लाइपोएस्पाइरेट, जिसे लंबे समय तक आयुर्वैज्ञानिक अपशिष्ट समझा जाता था, अस्थि मज्जा की अपेक्षा स्तंभ कोशिकाओं का दस गुना प्रचुर स्रोत है। ऐसी ADSCs अस्थि मज्जा से प्राप्त स्तंभ कोशिकाओं BMDSCs से समलक्षणी और क्रियात्मक समानताएं भी दिखाती हैं। वैज्ञानिक और आयुर्वैज्ञानिक समुदाय में ADSCs के प्रति रुचि बढ़ रही है, जैसा कि अनुसंधान पत्रिकाओं में प्रकाशनों की बढ़ती संख्या और विश्व भर में 100 से भी अधिक हो रहे नैदानिक परीक्षणों से प्रमाणित होता है। अंत में, रज्जु रक्त स्तंभ कोशिकाएं, गर्भ में भ्रूण को माता से जोड़ने वाले नाभिक रज्जु से मिलती हैं। उन्हें प्राप्त करना सरल है लेकिन कोशिकाओं की एक सीमित संख्या ही प्राप्त होती है।

वयस्क स्तंभ कोशिकाएं या MSCs मस्तिष्क में भी मौजूद होती हैं और तंत्रिका स्तंभ कोशिका कहलाती हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि ये कोशिकाएं मस्तिष्क में सुनम्यता और ऊतकों के पुनर्जनन के लिए उत्तरदायी होती हैं। वे संभवतः मस्तिष्क के पतनशील रोगों के उपचार में सहायक होंगी। वयस्क स्तंभ कोशिकाओं का उपयोग अपेक्षाकृत सुरक्षित है क्योंकि वे ग्राही के शरीर से ली जाती हैं और इसमें अस्वीकृति के अवसर बहुत कम होते हैं।

स्तंभ कोशिकाएं – बहिर्जीव संवर्धन एवं प्रसार

MSCs ऑटोलोगस (रोगी की अपनी स्तंभ कोशिकाओं का उपयोग), सहजात (अर्थात् आनुवंशिक रूप से समान – जुड़वां या त्रिक से ली गयी कोशिकाएं) या परजात (मैच किए गए दाता से ली गयी कोशिकाएं – परिवार से बाहर की भी हो सकती हैं) उपयोग के लिए अभिप्रेत हो सकते

हैं। कोशिकाओं को आमतौर से विभिन्न भौतिक, समलक्षणी, और क्रियात्मक गुणों के आधार पर अभिलक्षित किया जाता है। कम कीमत, क्लीनिकल पैमाने पर तेजी से प्रसार के उद्देश्य को पूरा करने के लिए अच्छी गुणवत्ता की कोशिकाएं उत्पन्न करने के लिए MSCs के बड़े पैमाने पर बहिर्जीव (मानव शरीर के बाहर) संवर्धन के लिए व्यापक रूप से शोध किया जा रहा है। एक बार निर्मित होने के बाद, उन्हें रोग के स्थान के अनुसार रोगी के रक्त में अंतराशरीर मार्ग से या अन्य स्थानीय मार्गों जैसे कि आंतर-आर्टिकुलर या आंतर-पैरनकाइमल इंजेक्शन द्वारा दिया जा सकता है।

MSC उत्पाद अभी महंगे हैं और अन्य औषधियों के विपरीत जो कि फार्मसी में उपलब्ध होती हैं, इनके वितरण के लिए अस्पतालों की जरूरत होती है। अंतिम उत्पाद की आशा के अनुरूप गुणवत्ता सुनिश्चित करने हेतु, उनके उत्पादन के लिए अच्छी निर्माण प्रक्रिया प्रोटोकॉल वाले अनुपालक (GMP) की आवश्यकता होती है जिससे सुनिश्चित किया जा सके कि कोशिका प्रतिदर्श को नियंत्रित वातावरण में एकत्रित, संसाधित, गुणवत्ता नियंत्रित, संग्रहित और लेबल करना सुनिश्चित हो सके। इन सभी प्रक्रियाओं के लिए उपयुक्त राष्ट्रीय नियामक निकायों जैसे कि यूएसएफडीए (US फूड एंड ड्रग एडमिनिस्ट्रेशन), ईएमए (यूरोपियन मेडीकल एजेंसी) या सीडीएससीओ (सेंट्रल ड्रग्स स्टैंडर्ड कंट्रोल ऑर्गेनिजेशन-भारत) से अनुमोदन और प्रमाणीकरण प्राप्त करना होता है।

स्तंभ कोशिकाएं – विश्वसनीय उपचार या केवल किताबी विज्ञान?

स्तंभ कोशिकाओं के चिकित्सीय लाभ पशुओं और मानव रोगियों के अनेक अध्ययनों में प्रलेखित हैं। परिणामस्वरूप, स्तंभ कोशिकाएं अस्थि, हृदय, कैंसर और मस्तिष्क के कठिन रोगों के उपचार के लिए विश्वसनीय एवं नवीन उपचार विकल्प हैं। प्रदाह रोगों के दौरान अतिसक्रिय हो जाने वाली विभिन्न प्रतिरक्षी कोशिकाओं की क्रिया को रोकने की क्षमता के कारण, और क्षतिग्रस्त ऊतकों के पुनर्जनन या पोषक ऊतक को वृद्धिकारक प्रदान करने की उनकी क्षमता के कारण, चिकित्सा की विभिन्न शाखाओं में स्तंभ कोशिका उपचार की संभावनाएं खोजी गयीं।

स्तंभ कोशिकाओं का सबसे व्यापक रूप से ज्ञात और पुराना उपयोग है रक्त कैंसर का उपचार करना। यह ज्ञात है कि कैंसर स्वयं शरीर द्वारा होने वाला रोग है और इसीलिए इस रोग के उपचार के लिए, कीमोथिरेपी के दौरान मृत हो गयी रक्त कोशिकाएं उत्पन्न करने वाली स्तंभ कोशिकाओं को प्रतिस्थापित करने के लिए स्तंभ कोशिका प्रत्यारोपकों का प्रयोग किया जाता है। इससे कोशिकाएं स्वस्थ रक्त कोशिकाएं उत्पन्न करने के लिए पुनर्जनित हो जाती हैं। यह विशेष रूप से लिम्फोमा, ल्युकीमिया और कुछ विशेष मायलोमा के उपचार के लिए उपयोगी होती हैं। वैश्विक रूप से विभिन्न रक्त कैंसरों के उपचार के लिए 150 स्तंभ कोशिका परीक्षण (अब भी मानवों पर उपचारों का परीक्षण जारी है) जारी हैं। अधिकांश ऑटोलोगस स्तंभ

कोशिका परीक्षण हैं क्योंकि वे इस वास्तविकता के कारण सबसे अधिक विश्वसनीय हैं कि कोशिकाओं की अस्वीकृति दर बहुत कम है।

कैंसर के अलावा, स्तंभ कोशिकाएं विभिन्न जोड़ों के रोगों जैसे कि ऑस्टिओआर्थराइटिस और र्यूमेटॉयड आर्थराइटिस में प्रभावी पाए गए हैं जिनमें स्वयं शरीर का प्रतिरक्षा तंत्र शरीर के ऊतकों पर आक्रमण करता है। MSCs को पशु मॉडलों एवं ऑस्टिओआर्थराइटिस के रोगियों में कार्टिलेज के दोषों को ठीक करते और कार्टिलेज पुनः बनाते देखा गया है (डिमिट्रिस रीसीस आदि, *एक्सपर्ट ओपिनियन ऑन बायोलोजिकल थिरेपी* 2016, खंड 16(4), पृ 535-557)। इसके अतिरिक्त, स्तंभ कोशिकाओं का उपयोग व्यापक रूप से अस्थि और कार्टिलेज ऊतक अभियांत्रिकी शोध उद्देश्य के लिए होता है। अन्य उपयोग हैं कार्डियावैस्कुलर रोग, स्पाइनल कॉर्ड क्षति और नेत्र रोग। यूरोप, कनाडा और न्यूजीलैंड में अनेक स्तंभ कोशिका उत्पादों को अनुमोदित किया गया है। नैदानिक परीक्षणों में अन्य अनेक उत्पाद प्रगति पर हैं, रोगियों पर कुछ प्रारम्भिक लाभ देखे गए हैं और जल्दी ही निकट भविष्य में उपचार के लिए बाजार में उपलब्ध होंगे। सारणी 1 में विभिन्न स्तंभ कोशिका उत्पाद दिखाए गए हैं जिनके मानव पर नैदानिक परीक्षण हो रहे हैं (एलन ट्राउन्सन और कर्टनी मैकडोनाल्ड, *सैल स्टेम सैल*, 2015, खंड 17 (1), पृ 11-22)। अधिकांश परीक्षण एलोजेनिक MSCs पर विश्व भर में, विशेष रूप से यूएस, यूरोप और चीन में हो रहे हैं।

सारणी 1. मानव क्लीनिकल परीक्षणों के अंतर्गत विविध स्तंभ कोशिका आधारित उत्पाद

चल रहे परीक्षणों की कुल संख्या	रोग	मानव क्लीनिकल विकास अवस्था
एमएससी परीक्षण		
~315	अस्थि / कार्टिलेज / न्यूरो / स्वप्रतिरक्षी / मधुमेह / गुर्दे / फेफड़े / यकृत / गैस्ट्रोइन्टेस्टाइनल रोग	फेज I से IV
ईएससी परीक्षण		
8	मैकुलर अपक्षय / मस्क्युलर डिस्ट्रॉफी / टाइप I डायबिटीज मेलिटस / हृदयाघात / पार्किन्सन रोग / स्पाइनल कार्ड क्षति	फेज I/II
तंत्रिकीय स्तंभ कोशिका परीक्षण		
6	पुनरावर्ती उच्च श्रेणी ग्लिओमास / ALS / स्पाइनल कार्ड क्षति / स्ट्रोक / लोअर लिंब इस्किमिया / न्यूरोनल सेरॉयड लिपोफसिनोसिस / मैकुलर अपक्षय / पेलिजिअस-मर्जबेकर रोग / पार्किन्सन रोग	फेज I/II
नाभिकीय रज्जु स्तंभ कोशिका परीक्षण		
4	क्रोहन्स रोग / मल्टीपिल स्क्लीरोसिस / पेरीफेरल आर्टरी रोग / र्यूमेटॉयड आर्थराइटिस / ग्राफ्ट टे होस्ट रोग / हीमोरेजिक सिस्टाइटिस / आइडिओपैथिक पल्मोनरी फाइब्रोसिस / इम्युन रोग	फेज I

स्तंभ कोशिका आधारित चिकित्सा की वर्तमान चुनौतियां

उनके संगत और संतुलित चिकित्सीय उपयोग को सिद्ध करने के मार्ग में कुछ चुनौतियां हैं – उपचार आरंभ करने के लिए रोग की अनुकूलतम अवस्था का अपर्याप्त ज्ञान। दूसरे, चिकित्सा अकसर उन्नत-अवस्था वाले रोगियों को दी जाती है जिनके लिए कोई दूसरा उपचार उपलब्ध नहीं होता और ऐसे रोगी अन्य रोगों से भी ग्रसित होते हैं जिसके कारण उत्पन्न नैदानिक अप्रभाविता इसकी वास्तविक क्षमता को छिपा देती है। यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात नहीं है कि निम्नतम या इष्टतम कितनी कोशिकाएं प्रत्यारोपित की जानी चाहिए। इसके अतिरिक्त, स्तंभ कोशिका चिकित्सा केवल तब ही उपयोगी होती है अगर बड़ी संख्या में रोगियों का उपचार करने के लिए कोशिकाएं उचित मात्रा और गुणवत्ता में बनाई गई हों।

अनेक वर्षों तक रोगियों में जीवित रहने और अनियंत्रित ऊतक वृद्धि या ट्यूमर की संभावना या अन्य अप्रत्यावर्ती पार्श्व प्रभावों को ध्यान में रखते हुए स्तंभ कोशिका उत्पादों की दीर्घ अवधि सुरक्षा

सारणी 2. भारत में स्तंभ कोशिका पाठ्यक्रम प्रदान करने वाले संस्थान

भारतीय विज्ञान संस्थान	बंगलुरु
नेशनल सेंटर फॉर बायोलॉजिकल साइंस (NCBS)	बंगलुरु
नेशनल सेंटर फॉर सैल साइंस (NCCS)	पुणे
नेशनल इंस्टीट्यूट फॉर रिसर्च इन रिप्रोडक्टिव हेल्थ, मुंबई	मुंबई
मणिपाल इंस्टीट्यूट ऑफ रिजेनेरेटिव मेडिसिन (MIRM)	बंगलुरु
सेंटर फॉर सैल्युलर एंड मॉलिक्युलर बायोलॉजी (CCMB)	हैदराबाद
भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान	चैन्नै
नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ न्यूट्रीशन एंड नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ इम्म्यूनोलॉजी	
सेंटर फॉर स्टेम सैल्स साइंसेज	हैदराबाद
सेंटर फॉर स्टेम सैल रिसर्च	वैल्लोर

भी विवादास्पद है। हाल में किए गए कुछ अध्ययन रोगियों में उनके सुरक्षित होने का विवरण देते हैं। (डेनिल वीस आदि, चेस्ट, 2013, खंड 143, पृ 1590-98)। कुल मिलाकर, उनसे होने वाले खतरे को न तो स्पष्ट रूप से बताया गया है न ही खारिज किया गया है।

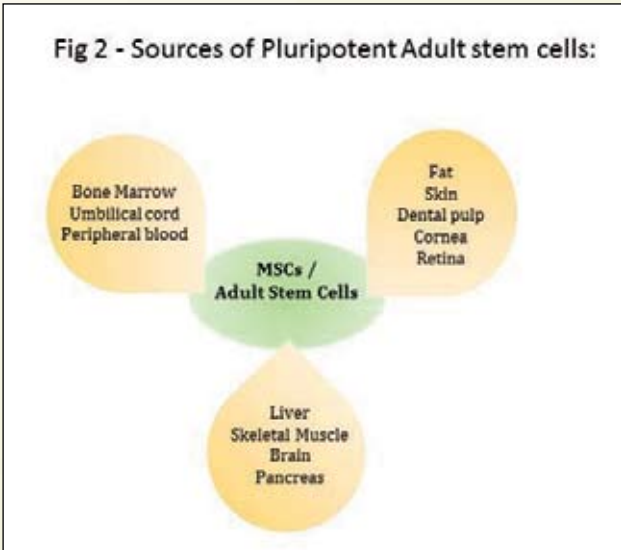
इन सब चुनौतियों के बावजूद, अब भी बड़ी संख्या में नैदानिक परीक्षण चल रहे हैं। चूंकि चुनौतियों को सुलझाने और उनका सामना करने के लिए नैदानिक शोध जारी हैं, संभवतः भविष्य में MSCs नैदानिक उपचार में असाध्य रोगों से पीड़ित निराश रोगियों के लिए बहुमूल्य चिकित्सा के अवसर की संभावना बन सकें। इसलिए, स्तंभ कोशिका विज्ञान, जो कुछ दशकों पहले तक किताबी विज्ञान था, बिक्री योग्य चिकित्सा उत्पाद के रूप में तेजी से उभर रहा है।

स्तंभ कोशिका शोध और उत्पाद : भारत की स्थिति

भारत में भी, स्तंभ कोशिका अनुसंधान तेजी से लोकप्रियता और गति पकड़ रहा है। अनेक अनुसंधान संस्थान और अस्पताल स्तंभ कोशिका आधारित अनुसंधान में लगे हैं। भारत सरकार देश भर में मौलिक एवं ट्रांसलेशनल अनुसंधान करने, स्तंभ कोशिका पर काम करने के लिए प्रशिक्षण केंद्र स्थापित करने और मेडीकल स्कूलों में सुविधाएं प्रदान करने तथा एमएससी एवं पीएचडी कार्यक्रम चलाने में सहयोग दे रही है। भारत में स्तंभ कोशिका पाठ्यक्रम प्रदान करने वाले कुछ संस्थान सारणी 2 में सूचित किए गए हैं।

भारत सरकार एसबीआईआरआई (स्माल बिजनेस इनोवेटिव रिसर्च इनीशियेटिव) स्कीम के जरिए छोटी और बड़ी बायोटेक कंपनियों को सहायता दे रही है। अनेक अनुसंधान संस्थान और बायोटेक कंपनियां बेहतर निर्माण कार्यप्रणालियों (GMP) –

स्तंभ कोशिका उत्पादों के लिए अनुवर्ती सुविधाओं – से सुसज्जित हैं और बड़े पैमाने पर MSCs का विस्तार भी कर रही हैं (संजय गोतिपामुला आदि, जे टिश्यू इंग एंड रेज मेडिसिन, 2013, खंड 10(2), पृ 108-19)। 2013 में, स्तंभ कोशिका परीक्षणों को वैध बनाया गया और नियामक नियंत्रण में लाया गया। डीसीजीआई (ड्रग्स कंट्रोलर जनरल



ऑफ इंडिया) / सीडीएससीओ ने एक नियम बनाया है कि स्तंभ कोशिका उपचार को सीधे ही रोगों (हीमेटोपोइटिक रोगों के अलावा; अर्थात रक्त या रक्त कोशिकाएं बनाने से संबंधित रोग) के उपचार के लिए प्रस्तुत नहीं किया जा सकता, रोगी को नैदानिक परीक्षणों का हिस्सा (www.cdsc.nic.in) होना चाहिए और ऐसे सभी परीक्षण भारतीय क्लीनिकल परीक्षण रजिस्ट्री में अधिसूचित होने चाहिए। उपयोग से संबंधित सभी गतिविधियां अर्थात निर्माण / विलगन / संग्रह / भंडारण और रोगियों में प्रत्यारोपण, केवल डीसीजीआई / सीडीएससीओ द्वारा दिए गए लाइसेंस या अनुमति के अंतर्गत ही होना चाहिए। यह ऑटोलोगस और एलोजेनिक

स्तंभ उत्पादों दोनों पर ही लागू होता है। इस प्रलेख के प्रतिबंधों का पालन न करने पर या डीसीजीआई / सीडीएससीओ के लाइसेंस के बिना स्तंभ कोशिकाओं का उपयोग करने पर ड्रग्स और कॉस्मेटिक अधिनियम की शर्त के अनुसार जुर्माना हो सकता है। आशा है कि अब इन नियमनों के कारण, रोगी झूठे बहानों से उपचार नहीं ले सकेंगे। स्तंभ कोशिका बैंकिंग, जिसके बारे में कुछ वर्ष पहले सुना गया था, पिछले कुछ समय से आनुवंशिक या असाध्य रोगों के उपचार के विकल्प के रूप में लोकप्रिय हो गयी है। कुल मिला कर, भारत में स्तंभ कोशिका उपचार बहुत तेजी से आकार लेने के लिए संभल रहा है। निकट भविष्य में, आशा है कि भारत नियामक नियमों के साथ वैध रूप में बिना किसी छल के स्तंभ कोशिका अनुसंधान और चिकित्सा में महत्वपूर्ण प्रतिभागियों में से एक होगा।

सार संक्षेप

स्तंभ कोशिकाओं में रोगों के कारणों का पता लगाने के साथ साथ रोगों का उपचार करने के लिए हल सुझाने में विज्ञान की सहायता करने की असीम संभावनाएं हैं। उनकी उच्च प्रफलन और प्रतिरक्षी-

नियामक क्षमता उन्हें भविष्य में विभिन्न रोगों – विशेष रूप से ऐसे रोग अभी जिनका संतोषजनक उपचार उपलब्ध नहीं है – में नैदानिक अनुप्रयोगों के लिए विश्वसनीय प्रतिभागी बनाती है। स्तंभ कोशिकाएं क्षतिग्रस्त ऊतक संरचना और क्रिया के पुनर्निर्माण या पुनर्जनन की एक विलक्षण रोग-परिवर्ती संभावना प्रदान करती हैं जैसी अभी किसी भी अन्य चिकित्सीय प्लेटफार्म पर प्राप्त नहीं हुयी है। MSCs विशेष रूप से, अस्थि, कार्टिलेज, टेंडन और लिगामेंट जैसे क्षतिग्रस्त ऊतकों की प्रतिस्थापना के लिए उच्च संभावना दिखाती हैं। वैज्ञानिकों, क्लीनिकल परीक्षणों और फार्मास्यूटिकल कंपनियों के बीच निकट सहयोग एवं परस्पर संवाद से स्तंभ कोशिका अनुसंधान और मेडिकल अनुप्रयोगों का विस्तार जारी रहेगा। यद्यपि, आज यह दावा नहीं किया जा सकता कि स्तंभ कोशिका उपचार समान रूप से प्रभावी एवं सुस्पष्ट होगा, लेकिन यह स्पष्ट रूप से उन रोगियों के लिए प्रतिपूर्ति का एक अवसर है जो इसका लाभ उठा सकते हैं।

सुश्री आइशा सल्दाना, एनएसएस हिल सिंगर इंटरनेशनल स्कूल, तारदेव, मुंबई की विद्यार्थी हैं।

डॉ नीलम खैरातकर जोशी, एनसीई डिस्कवरी रिसर्च, ग्लोबलमार्क फार्मास्यूटिकल्स लि., महापे, नवी मुंबई, भारत में वरिष्ठ उपाध्यक्ष एवं प्रमुख हैं।

(अनुवाद : डॉ विनीता सिंघल) ■

कैसे खाती हैं कोशिकाएं स्वयं को

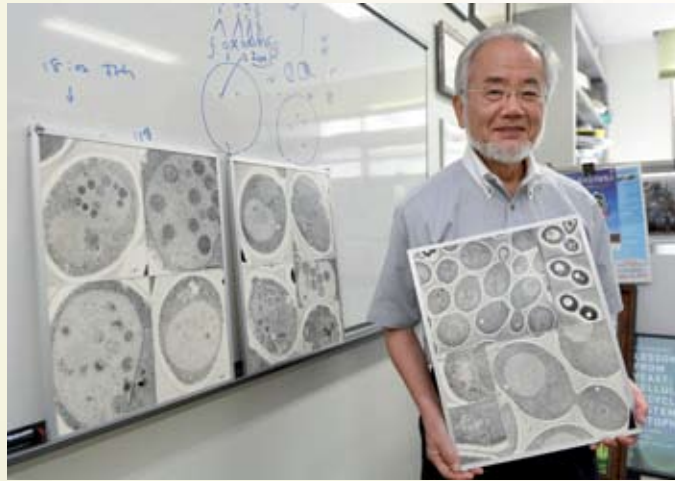
बिमान बसु, ई-मेल: bimanbasu@gmail.com

हमारे शरीर में कोशिकाएं सदैव नष्ट होती रहती हैं और शरीर उन घटकों को नई कोशिकाएं बनाने के लिए रीसाइकिल करता रहता है। ऑटोफैजी एक सामान्य कायिक प्रक्रिया है जो शरीर में कोशिकाओं के अपक्षय से संबंधित होती है। यह निर्विशीकरण के लिए कायिक विधि प्रदान कर, एक कोशिकीय कचरा संग्रह केंद्र और रीसाइकिल सेवा की तरह काम करता है जहां शरीर की कोशिकाएं पुनःचक्रित होती हैं और अपने भीतरी व्यर्थ उत्पादों को साफ करती हैं। यह नवीन कोशिकाओं के निर्माण हेतु प्रोटीन अपक्षय और क्षतिग्रस्त कोशिकांगों के उपयोग से होमिओस्टैसिस या सामान्य क्रियाओं को बनाए रखती है। जब शरीर किसी प्रकार के तनाव में होता है जैसे कि व्रत के दौरान, ऑटोफैजी की प्रक्रिया ऊर्जा के लिए तेजी से ईंधन बनाने और कोशिकीय संघटकों के पुनर्नवीकरण हेतु निर्माण इकाइयों प्रदान करने के लिए गतिशील हो जाती है। ऑटोफैजी की संकल्पना 1960 के दशक में सामने आयी थी, जब शोधकर्ताओं ने पहली बार देखा कि कोशिका स्वयं अपने अंश को एक भित्ति के अंदर बंद करके, बैग जैसी पुटिकाएं बना कर, नष्ट कर सकती है जिन्हें लाइसोसोम नामक रीसाइकिलिंग कक्ष में अपक्षय के लिए ले जाया जाता है।

हालांकि, ऑटोफैजी की पहचान 1960 के दशक में हो गयी थी, क्रियाविधि और कायिक प्रासंगिकता का दशकों तक बहुत कम ज्ञान था जब तक कि जापान में टोकिया इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के योशीनोरी ओहसूमी ने ऑटोफैजी के लिए आवश्यक जीनों की पहचान करने के लिए बेकर्स यीस्ट का प्रयोग नहीं किया। इसके बाद उन्होंने यीस्ट में ऑटोफैजी के लिए निहित क्रियाविधियों को स्पष्ट किया और दिखाया कि मानव कोशिकाओं में भी संघटकों को रीसाइकिल करने के लिए वैसी ही मशीनरी का उपयोग किया जाता है। वर्ष 2016 का चिकित्सा या कायिकी का नोबेल पुरस्कार ओहसूमी को ऑटोफैजी की क्रियाविधियों की खोज के लिए प्रदान किया गया है।

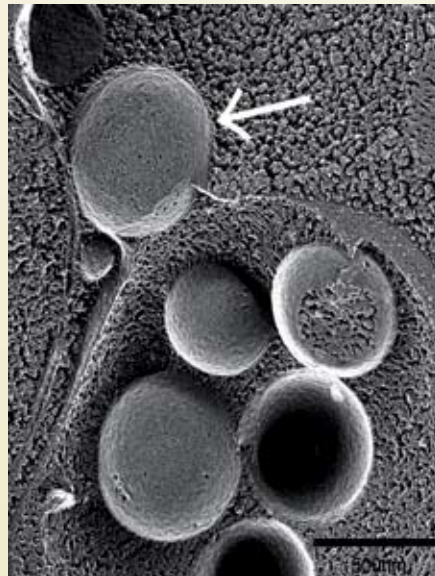
कहानी का आरंभ 1950 के दशक के मध्य में हुआ जब वैज्ञानिकों ने प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट और लिपिडों को पचाने वाले एंजाइमों से युक्त एक नया विशेषीकृत कोशिकीय भाग देखा जिसे कोशिकांग कहा गया। इस विशेषीकृत भाग को "लाइसोसोम" कहा गया जो कोशिकीय घटकों के अपक्षय के लिए वर्कस्टेशन के रूप में काम करता है।

लाइसोसोम की खोज के तुरंत बाद, शोधकर्ताओं ने पाया कि चूहे में सामान्य वृक्क विकास के दौरान कोशिकाद्रव के हिस्से भित्तिमय इन संरचनाओं में स्ववियोजित हो रहे हैं। जीवद्रव्य की थोड़ी मात्रा और माइटोकॉन्ड्रिया युक्त समान रचनाएं, चूहे के



अपनी प्रयोगशाला में ओहसूमी

वृक्क की कोशिकाओं में हाइड्रोनेफ्रॉसिस (एक ऐसी अवस्था जो विशेष रूप से तब होती है जब वृक्क से मूत्राशय में मूत्र का निकास सामान्य न होने के कारण वृक्क फूल जाता है) के दौरान देखी गई।



कोशिका का सूक्ष्मदर्शी चित्र जिसमें दिखाया गया है कि ऑटोफैजी में किस प्रकार एक भित्ति-बंधित बैग (तीर द्वारा प्रदर्शित) की प्रोटीन, एंजाइम युक्त दूसरे बैग में मिल जाती हैं। (श्रेय: योशीनोरी ओहसूमी)

चूहे की सामान्य यकृत कोशिकाओं में भी अपक्षय हो रही कोशिकाद्रव युक्त भित्ति संरचनाएं मौजूद थीं और विपैले कारकों के संपर्क में आते ही नाटकीय रूप से उनकी बहुलता बढ़ गयी। यह जान कर कि इन संरचनाओं में आंतरकोशिकीय अंश के हिस्सों को पचाने की क्षमता होती है, बेल्जियम के कोशिकाविज्ञानी और नोबेल पुरस्कार विजेता क्रिश्चियन डी ड्यूवे ने 1963 में एक नया शब्द "ऑटोफैजी" दिया। उन्होंने एनुअल रिव्यू ऑफ फीजिऑलॉजी में 1966 में प्रकाशित एक समीक्षा लेख में इस संकल्पना को विस्तार में वर्णित किया। यह अनुमान लगाया गया कि ऑटोफैजी, भुखमरी की प्रतिक्रिया में उत्पन्न उपापचयी तनाव को सहने की क्रियाविधि हो सकती है और यह कि रोग के रोगजनन में इसकी भूमिका हो सकती है।

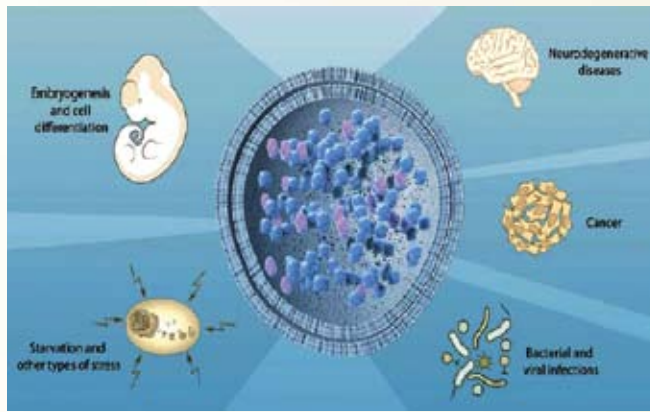
अनेक संकेतों के बावजूद कि ऑटोफैजी एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया हो सकती है, इसकी क्रियाविधि और नियमन को नहीं समझा गया, संभवतः इसलिए क्योंकि केवल मुट्ठी भर प्रयोगशालाएं ही समस्या पर काम कर रही थीं। परिणामस्वरूप, 1990 के दशक के आरंभ में, डी ड्यूवे द्वारा ऑटोफैजी नाम देने के लगभग 30 वर्षों के बाद, यह प्रक्रिया एक जैविक पहली ही रही। तब ही योशीनोरी ओहसूमी जो उस समय टोकियो विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर थे, ने मुकुलित यीस्ट सैक्रोमाइसीज सेरेविसी का मॉडल तंत्र के रूप में प्रयोग कर ऑटोफैजी का अध्ययन करने का निश्चय किया। पहला प्रश्न जिसका उन्होंने सामना किया वह यह था कि क्या ऑटोफैजी इस एक कोशिकीय जीव में मौजूद है। ओहसूमी विभिन्न अनुसंधान क्षेत्रों में सक्रिय थे, लेकिन 1988 में अपनी प्रयोगशाला आरंभ करने पर, उन्होंने अपने प्रयासों को मानव कोशिकाओं में लाइसोसोम से संबद्ध कोशिकांग 'रिक्तिका' में प्रोटीन अपक्षय पर केंद्रित किया। यीस्ट कोशिकाओं पर अध्ययन करना अपेक्षाकृत सरल है और परिणामतः उनका उपयोग मानव कोशिकाओं के लिए मॉडल के रूप में प्रयोग किया जाता है। वे विशेष रूप से ऐसे जीनों की पहचान करने के लिए उपयोगी होते हैं जो जटिल कोशिकीय मार्गों में महत्वपूर्ण होते हैं।

यीस्ट रिक्तिका क्रियात्मक रूप से स्तनधारी लाइसोसोम के तुल्य होती है। ओहसूमी ने कारण दिया कि, अगर यीस्ट में ऑटोफैजी होती है, तो

रिक्तिका में पाए जाने वाले एंजाइमों के अवरोधन से रिक्तिका में निगले हुए कोशिका द्रव के संघटक संचित हो सकते हैं। इस परिकल्पना के परीक्षण के लिए, उन्होंने यीस्ट के विभेद विकसित किए जिनमें रिक्तिकीय एंजाइम प्रोटीनेस ए, प्रोटीनेस बी और कार्बोक्सि-पेप्टाइडेस की कमी थी। उन्होंने पाया कि जब अभियांत्रित यीस्ट को पोषक से वंचित माध्यम में वर्धित किया गया, ऑटोफैगिक पिंड रिक्तिका में जमा हो गए और जिससे एक असामान्य रिक्तिका उत्पन्न हुई जो प्रकाश सूक्ष्मदर्शी में देखी जा सकती थी। उत्परिवर्तियों का प्रयोग करते हुए, ओहसूमी ने 15 जीनों की पहचान की जो यूकैरिओटिक कोशिकाओं में ऑटोफैजी के सक्रियण के लिए आवश्यक होती हैं। जैसे ही यीस्ट और अन्य प्रजातियों में नवीन ऑटोफैजी जीनों की पहचान हुयी, ATG ('ऑटोफैजी से संबंधित' निर्देशित करते हुए) संक्षेपण का प्रयोग करते हुए जीन-नाम-पद्धति की एक समेकित पद्धति को अपनाया गया। आने वाले वर्षों के दौरान, ओहसूमी ने अनेक ATG जीन क्लोन कीं और उनके प्रोटीन उत्पादों की क्रिया को अभिलक्षित किया।

ओहसूमी और उनके साथियों ने पहली बार यीस्ट ATG जीनों के स्तनधारी समांगियों की पहचान की, जिससे उच्च यूकैरिओट्स (कोशिकाओं में भित्ति युक्त केन्द्रक वाले जीव) में ऑटोफैजी की क्रिया का अध्ययन संभव हुआ। ओहसूमी के आरंभिक अध्ययनों ने ऑटोफैजी में अतिशय रुचि उत्पन्न की। यह क्षेत्र 2000 के दशक के आरंभ में प्रकाशनों में उल्लेखनीय बढ़त के साथ जैवचिकित्सीय अनुसंधान के सबसे गहन अध्ययन क्षेत्रों में से एक बन गया।

ओहसूमी के काम द्वारा प्रदत्त जानकारीयां ऑटोफैजी का ज्ञान बढ़ाने और कोशिका कायिकी एवं अनेक पैथोलॉजिकल अवस्थाओं में इसके संबद्ध होने में सहायक हुई। अब यह ज्ञात हो गया कि तंत्र लगातार आधारीय स्तर पर काम करता है। कुछ एंजाइमों के विपरीत जो प्राथमिक रूप से लघुजीवी प्रोटीनों को अपक्षयित करते हैं, ऑटोफैजी दीर्घ जीवी प्रोटीनों को साफ कर सकती है और संपूर्ण कोशिकांगों जैसे कि माइटोकॉन्ड्रिया, परॉक्सीसोम और एन्डोप्लाज्मिक रेटीकुलम को नष्ट करने के लिए एकमात्र सक्षम प्रक्रिया है। इस प्रकार ऑटोफैजी कोशिकीय होमिओस्टेसिस को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। ऑटोफैजी कुछ विशेष अवस्थाओं में भी कोशिकाओं को नष्ट करती है। यह प्रोग्रामित कोशिका मृत्यु (PCD) का एक प्रारूप है और इसे ऑटोफैजिक कोशिका



स्वास्थ्य और चिकित्सा में ऑटोफैजी। ऑटोफैजी, भ्रूणजनन और कोशिका विभेदन सहित क्षुधा के प्रति अनुकूलन और अन्य प्रकार के तनावों के साथ साथ तंत्रिका अपक्षय रोगों, कैंसर और संक्रमणों से संबंधित कायिक प्रक्रियाओं से जुड़ी होती है (श्रेय: nobelprize.org)

मृत्यु कहते हैं। प्रोग्रामित कोशिका मृत्यु आमतौर से एपॉप्टोसिस कहलाती है।

योशीनोरी ओहसूमी द्वारा ऑटोफैजी जीनों की खोज और ऑटोफैजी की आण्विक मशीनरी के स्पष्टीकरण ने यह समझने हेतु कि कोशिकाएं किस प्रकार अपने अंशों को रिसाइकिल करती हैं, नए परिदृश्य दिए हैं। यह मुख्यतः ओहसूमी का ही काम था जिसके कारण आज हम जानते हैं कि ऑटोफैजी उन महत्वपूर्ण कायिक क्रियाओं को नियंत्रित करती है जिनमें कोशिकीय संघटकों को अपक्षयित होने और रिसाइकिल होने की जरूरत होती है। ऑटोफैजी तेजी से ऊर्जा के लिए ईंधन और कोशिकीय संघटकों के पुनर्नवीकरण के लिए आधारभूत घटक प्रदान कर सकती है जो भुखमरी और अन्य प्रकार के तनावों के प्रति कोशिकीय प्रतिक्रिया के लिए आवश्यक होते हैं। संक्रमण के बाद, ऑटोफैजी घुसपैठ करने वाले जीवाणुओं

और विषाणुओं को दूर कर सकती है। ऑटोफैजी कोशिकाओं को बाहरी वातावरण जैसे कि पोषण की कमी जैसे तनावों में जीवित रहने में और उन्हें भीतरी तनावों जैसे कि क्षतिग्रस्त कोशिकांगों के संचयन एवं रोगकारकों या संक्रामक जीवों के आक्रमण जैसे तनावों को सहने में भी सक्षम बनाती है। ऑटोफैजी भ्रूण विकास और कोशिका विभेदन में भी योगदान देती है। ऑटोफैजी को आज मानव स्वास्थ्य पर विशेष प्रभाव डालने वाली कोशिका कायिकी की मूलभूत प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। विशेषज्ञों के अनुसार, ऑटोफैजी एक दिन दीर्घजीविता और स्वस्थ जीवन का केंद्र हो सकती है।

योशीनोरी ओहसूमी का जन्म 9 फरवरी 1945 को फुकुओका, जापान में हुआ था और उन्होंने 1974 में टोकियो विश्वविद्यालय से पीएचडी की उपाधि प्राप्त की। उन्होंने शुरुआत रसायन में की लेकिन फिर उन्हें लगा कि यह बहुत कम अवसरों वाला क्षेत्र है। इसलिए वे आण्विक जीवविज्ञान की ओर मुड़ गए। लेकिन उनकी पीएच डी थीसिस प्रभावहीन थी और उन्हें कोई नौकरी नहीं मिल सकी। उनके सलाहकार ने यूएसए, न्यूयार्क में रॉकफेलर विश्वविद्यालय में पोस्टडॉक्टरल अध्ययन का सुझाव दिया, जहां उन्हें चूहे में अंतःपात्रे निषेचन का अध्ययन करना था। लेकिन वहां वह बहुत निराश हो गए और यीस्ट का अध्ययन आरंभ कर दिया। वे एसोसिएट प्रोफेसर बन गए और 1988 में अपनी अनुसंधान प्रयोगशाला स्थापित की। वहां, 43 वर्ष की उम्र में उन्होंने जो खोज की, उसने उन्हें इस वर्ष का नोबेल पुरस्कार दिलाया।

(अनुवाद: डॉ विनीता सिंघल) ■

विज्ञान प्रसार वेबसाइट



विज्ञान प्रसार के प्रकाशनों को ऑनलाइन प्राप्त करने के लिए वेबसाइट के डिजिटल लाइब्रेरी भाग पर रजिस्टर करें। आप विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संबंधी प्रश्नों एवं उनके हल के लिए विचार-विमर्श फोरम का भी उपयोग कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी आधारित वीडियो, विज्ञान रेडियो धारावाहिक, ऑनलाइन विज्ञान विवज, गतिविधि प्रयोगों एवं अन्य कार्यक्रमों को जानने के लिए देखें www.vigyanprasar.gov.in

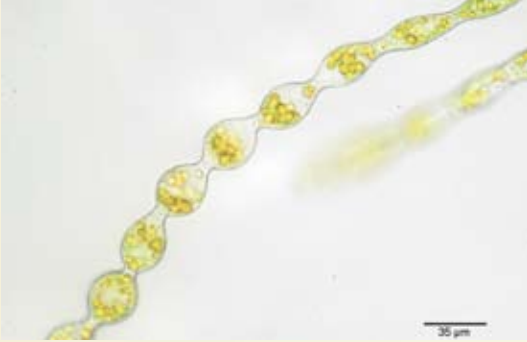
रक्त वर्षा का रहस्य



फैलिक्स बास्ट

ई-मेल: felix.bast@gmail.com

रक्त वर्षा एक विचित्र, किंतु वास्तविक घटना है जिसमें वर्षा की बूंदें कभी लाल, और कभी-कभी



आकृति 1. सूक्ष्मदर्शीय आकृति विज्ञान

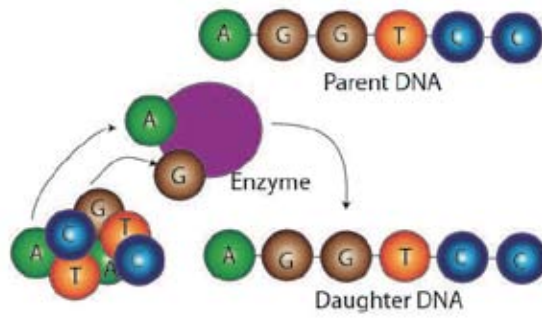
मानव रक्त की भांति गहरे लाल रंग की दिखाई देती हैं, इस असाधारण घटना के संकेत प्राचीन काल से ही मिलते हैं। रक्त वर्षा का उल्लेख इलियड-ट्रोजन युद्ध के ऊपर एक प्राचीन यूनानी महाकाव्य – में भी पाया जाता है। माना जाता है कि यह काव्य लगभग 700 ईसा पूर्व होमर द्वारा लिखा गया था। यह परिघटना दक्षिण भारत – विशेषकर केरल – और श्रीलंका से लगभग प्रत्येक वर्ष सूचित की जाती है: दिसंबर, 2013 में इसका नवीनतम प्रकरण सामने आया था। साक्ष्यों के अनुसार, ये वर्षा की बूंदें इतनी लाल थीं कि धूप में सूखते सफेद कपड़े इस बारिश में भीग कर गहरे लाल रंग में परिवर्तित हो गए।

तब से इस रहस्यमयी घटना के कुछ कथित कारणों का संचार हो रहा है। जिनमें दिव्य चमत्कार (देवी-देवताओं द्वारा स्वर्ग से ऐसा किया जाता है) और एलियनों की भागीदारी (पृथ्वी से बाहर रहने वाले एलियंस द्वारा ऐसा किया जाता है) शामिल हैं। उदाहरण के लिए, एक अमेरिकी अखबार दि हफिंगटन पोस्ट ने 2012 में सूचित किया कि रक्त वर्षा अन्य ग्रहों पर रहने वाले जीवों (एलियंस) के कारण होती है। पंजाब केंद्रीय विश्वविद्यालय में स्थित हमारे समूह की इस परिघटना में दिलचस्पी थी और हमने साक्ष्यों पर आधारित वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग करके 2013 में इस विषय पर काम करने का फैसला किया। यह लेख 'परदे के पीछे' हमारे समूह द्वारा किए गए कार्यों का अवलोकन करता है जो अंततः इस रहस्य के समाधान तक पहुंचता है। सबसे पहले, हमें रक्त वर्षा के नमूने की आवश्यकता थी, इसके लिए हमने केरल के वैज्ञानिकों, डॉ. नटराज पाणिक्कर और डॉ. जैक्शन अचनकुजु के साथ मिलकर काम किया। प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी (ऑप्टिकल माइक्रोस्कोप) के अंतर्गत, इस बात की पुष्टि हुई कि नमूनों में सुंदर मोतियों से सजे

हार की भांति जीव निहित थे जो ज्यादातर हरे रंग के लेकिन कभी-कभी लाल रंग के थे (आकृति 1)।

यह सूक्ष्म शैवाल की तरह लग रहा था, लेकिन हमें एक विश्वसनीय पुष्टि की आवश्यकता थी, इसलिए हमने इसका डी.एन.ए. अनुक्रमण करने का फैसला किया।

डीऑक्सीराइबोन्यूक्लिक अम्ल (डी.एन.ए.) एक दोहरा घुमावदार अणु है जो कोशिकाओं के नाभिक में पाया जाता है जिसमें आनुवांशिक जानकारी अनूठे वर्णों, जिन्हें न्यूक्लियोटाइड कहते हैं, के रूप में कोडित होती है। डी.एन.ए. वर्णों या इसके तथाकथित 'अनुक्रम', को पढ़ने के लिए, हम स्पैक्ट्रोस्कोपी द्वारा रासायनिक अभिक्रियाओं के परिणामों का विश्लेषण करते हुए उन अभिक्रियाओं पर भरोसा करते हैं। एक प्रारूपिक डी.एन.ए. अनुक्रमण में, डी.एन.ए. अणुओं को एक



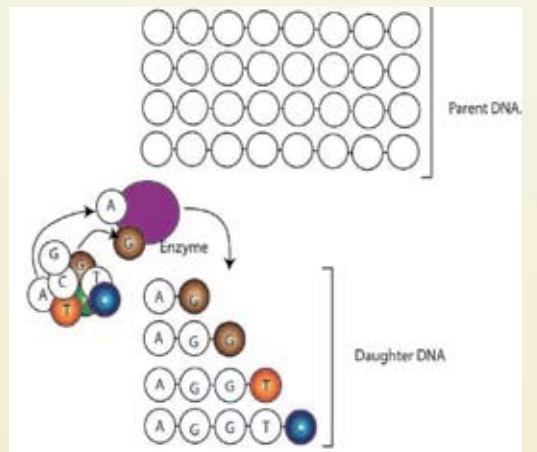
आकृति 2. पॉलिमरेस चेन रिएक्शन में पॉलिमरेस एंजाइम (बैंगनी) द्वारा डी.एन.ए. का प्रवर्धन

तकनीक द्वारा गुणित किया जाता है जिसे पॉलिमरेस चेन रिएक्शन (पी.सी.आर.) कहा जाता है। इसमें एंजाइम डी.एन.ए. पॉलिमरेस पैतृक डी.एन.ए. को पढ़ता है और इसकी एक सटीक प्रतिलिपि बनाता है; अनुजात डी.एन.ए., एक फोटोस्टेट कॉपी की तरह होती है (आकृति-2)। यह प्रक्रिया 30 या 40 बार दोहराई जाती है। प्रत्येक 'चक्र' में डी.एन.ए. अणु दोगुने हो जाते हैं। उदाहरण के लिए, प्रथम चक्र के समापन में एक अणु से दो अणु बन जाते हैं, दूसरे चक्र के समापन में 2 से 4 अणु; तथानुसार 40 वें चक्र के समापन तक हमारे पास 34 अरब अणु होंगे, और सभी बिल्कुल एक जैसे दिखाई देंगे। आमतौर पर हम सिर्फ एक अणु से शुरू नहीं करते बल्कि ये लाखों की संख्या में होते हैं। अतः आप 40 चक्रों के बाद प्राप्त होने वाले अणुओं की संख्याओं की कल्पना कर सकते हैं।

डी.एन.ए. अनुक्रमण में 'पी.सी.आर. अनुक्रमण' किया जाता है जिसमें सामान्य न्यूक्लियोटाइड प्रतिदीप्ति लेबलयुक्त न्यूक्लियोटाइड के साथ

इस तरह मिश्रित होते हैं कि जब इन प्रतिदीप्ति 'आच्छादित' न्यूक्लियोटाइडों का निगमन होता है तो प्रवर्धन समाप्त हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप अलग-अलग लम्बाई वाले उत्पाद निकलते हैं, प्रत्येक उत्पाद में चार अलग-अलग प्रकार के आवरण होते हैं, जो विशेष परिस्थितियों के अनुक्रम पर निर्भर करता है। (आकृति-3)

फिर इन अणुओं को एक तकनीक द्वारा अलग किया जाता है जिसे केशिका जैल वैद्युत कण-संचलन कहा जाता है और इसका विश्लेषण स्पेक्ट्रोस्कोपी का प्रयोग करके किया जाता है। हमने लाल रंग की बारिश में पाए जाने वाले रहस्यमयी जीव के जीनोम के एक भाग के अनुक्रमण के लिए अपनी प्रयोगशाला में एक जीनोम अनुक्रमण मशीन का प्रयोग किया। यह डी.एन.ए. अनुक्रम लगभग 1000 अक्षरों का पाया गया। इसकी पहचान की पुष्टि करने के लिए हमने जैनबैंक नामक एक डाटाबेस का प्रयोग किया, जिसे संयुक्त राज्य अमेरिका सरकार ने प्रस्तुत किया था, और इसे निःशुल्क इंटरनेट के माध्यम से प्राप्त किया जा सकता था। जैनबैंक ने हमें सूचित किया कि रक्त वर्षा में पाया जाने वाला जीव सूक्ष्म हरा शैवाल, ट्रेन्टीपोहलिया एनुलैटा (Trentepohlia annulata) था। हमारे प्रारंभिक संदेह, कि यह एक सूक्ष्म शैवाल था, की पुष्टि हो गई थी लेकिन हम इस विशिष्ट शैवाल के बारे में जानकर हैरान थे, क्योंकि इससे पहले भारतीय उप-महाद्वीप से इसकी जानकारी



आकृति 3. डी.एन.ए. अनुक्रमण प्रतिक्रिया (अनुक्रमण पी.सी.आर.)

शेष पृष्ठ 15 पर

चिकुनगुनिया

मच्छर पर सवार दुष्ट वायरस का हमला



डॉ. यतीश अग्रवाल

ई-मेल: dryatish@yahoo.com

देश भर को अपनी चपेट में लेने वाले चिकुनगुनिया बुखार की गति मंद पड़ने से सभी ने राहत की सांस ली है। फिर भी इस कमरतोड़ बुखार के बाद कई लोग अब भी शरीर के हर जोड़ की सूजन के कारण अपंगता महसूस कर रहे हैं और साथ ही यह आशंका ही उनके रोंगटे खड़े कर देती है कि कहीं उनके निकटतम प्रिय लोगों को इस 'टाइगर' मच्छर (एडीसएल्बोपिक्टस) के भयावह दंश के दुष्परिणामों को न झेलना पड़े।

रोग के नाम की पृष्ठभूमि

यह एक मच्छर जनित वायरल रोग है जिसने सबसे पहले 1952 में दक्षिण तंजानिया के लोगों पर हमला किया था। चिकुनगुनिया आर. एन. ए. वायरस जनित रोग माना जाता है। इसका नाम, दक्षिण पूर्व तंजानिया के निवासी मकोण्डे के नाम जातीय समूह की भाषा किमाकोण्डे लिंगो से लिया गया है। अंग्रेजी में अनुवाद किए जाने पर 'चिकुनगुनिया' का सरल अर्थ है, 'विकृत हो जाना'। यह शब्द वास्तव में ही चिकुनगुनिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति की अस्थायी शारीरिक स्थिति बयान करता है। जिसमें जोड़ों का दर्द सारी देह को तोड़ मरोड़ कर रख देता है।



वर्तमान शताब्दी से पूर्व, चिकुनगुनिया के कुछ छिटपुट मामले अफ्रीका में पाए गए थे। व्यापक स्तर पर रोग का स्वरूप 1999-2000 में देखा गया जब असंख्य कांगोली लोग इससे ग्रस्त हो गए थे और उसके बाद तो यह वायरस विश्व के अनेक भागों में फैल चुका है, मनुष्य निर्मित भौगोलिक सीमाओं को पार कर अनेक उपमहादीपों में अपने पांव पसार रहा है। आज यह विश्व के एक बड़े भूभाग में फैली महामारी है जिसके अंतर्गत समग्र अफ्रीका, एशिया एवं भारतीय उपमहादीप हैं। साथ ही यह यूरोप और अमेरिका में भी घुसपैठ की फिराक में है।

2005 की शुरुआत में यह हिंद महासागर के द्वीपों में महामारी की तरह फैल गया और 2006 में इसका स्वरूप और भी उग्र होकर भारत में आया जो 2007 तक चला। दक्षिण पूर्व एशिया में कई अन्य देश भी इसकी चपेट में आए। तभी से यह रोग अपने प्रचंड रूप में भारत, इंडोनेशिया, मालदीव, म्यांमार एवं थाइलैंड में फैल रहा है।

यूरोप में इसका प्रवेश 2007 में देखा गया जब उत्तर-पूर्व इटली में अनेक लोग एक साथ रोग ग्रस्त हुए। इससे यह स्पष्ट हो गया कि 'एडीस एल्बोपिक्टस' मच्छर यूरोप में प्रवेश कर चुका है और वह चिकुनगुनिया के लिए जिम्मेदार भी है। 2013 में, जब फ्रांस ने सेण्ट मार्टिन के कैरीबियन द्वीपों के फ्रांसिसी क्षेत्र में दो घरेलू चिकुनगुनिया मामलों की पुष्टि की थी तब से 43 देशों तथा अमेरिका के उपक्षेत्रों में स्थानीय रूप से चिकुनगुनिया के मामले नजर आते रहे हैं। अप्रैल 2015 तक कैरीबियन द्वीपों, लैटिन अमेरिकन देशों एवं अमेरिका के कई क्षेत्रों में अनुमानतः 14 लाख लोग इस रोग से ग्रस्त हो चुके हैं। इसी दौरान, रोग से मरने वाले 191 लोगों की संख्या भी दर्ज की गई। अमेरिका, कनाडा और मैक्सिको से यह रोग अन्य देशों में रोगियों के माध्यम से पहुंचा। 2014 में दक्षिण फ्रांस के एक नगर 'मॉण्टपेलियर' में स्थानीय चिकुनगुनिया संक्रमण पाया गया और उसी वर्ष बाद में प्रशांत महासागर के द्वीपों में यह संक्रमण फैल गया। कुक द्वीप समूह, मार्शल द्वीप समूह, अमेरिकन समोआ, फ्रेंच

पॉलीनीसिया, किरिबाती एवं समोआ में चिकुनगुनिया के हमले होते रहे हैं। किंतु इस वर्ष भारत के विभिन्न राज्यों में जिस व्यापक स्तर पर चिकुनगुनिया फैला वह संभवतः अब तक का सबसे बड़ा संक्रमण प्रसार रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन की अद्यतन सुलभ जानकारी के अनुसार, एशिया, अफ्रीका यूरोप और अमेरिका के 60 देशों में चिकुनगुनिया वायरस की सक्रिय मौजूदगी दर्ज की गई है।

संकेत एवं रोगलक्षण

चिकुनगुनिया वायरसग्रस्त होने पर अधिकांश लोगों में रोगलक्षण व्यक्त होते हैं। विशेष रूप से व्यक्ति, सामान्य से उच्च तापमान के ज्वर से ग्रस्त होता है – 39° सेल्सियस (102° फारनहाइट) जो अचानक ही शुरू हो जाता है। आमतौर पर रोगी पेशियों के दर्द, सरदर्द, मतली आने और थकान की शिकायत करता है। संक्रमित मच्छर द्वारा काटे जाने के अमूमन 3 से 7 दिन बाद ये रोगलक्षण उभरते हैं। आमतौर पर बुखार 1 सप्ताह में कम होने लगता है और अक्सर तो 3-4 दिन बाद ही, परंतु बुखार उतरने के बाद रोगी जोड़ों के दर्द और सूजन एवं एक खास किस्म की पित्ती की शिकायत करता है। इस समय प्रयोगशाला परीक्षणों में व्यक्ति की लिम्फोसाइट एवं प्लेटलेट गणना में कमी निकलती है, साथ ही गुर्दों की कार्यप्रणाली में विकार आ जाता है और यकृत के एन्जाइम बढ़ जाते हैं।



कुछ लोगों में रोगलक्षण इतने मंद होते हैं कि रोग का आभास नहीं हो पाता। उग्र रोगलक्षण विशेषतः 7 से 10 दिनों में दूर हो जाते हैं। अधिकांश लोग पूरी तरह स्वस्थ हो जाते हैं किंतु कुछ लोगों में जोड़ों की सूजन और दर्द कई महीनों तक बने रहते हैं और कभी कभार तो बरसों तक भी।

गंभीर किस्म के रोग के दुष्परिणाम कम ही देखने में आते हैं किंतु नवजात शिशु, गर्भावस्था, 65 वर्ष से अधिक आयु के व्यक्ति एवं पहले से उच्च रक्तदाब मधुमेह या हृदय रोगों से ग्रस्त लोगों के लिए रोग अधिक गंभीर स्थिति का जोखिमकारक बन सकता है।

कुछ अन्य स्थितियों में भी रोग बिगड़ जाता है। कुछ रोगी कभी-कभार जठरान्त्र तकलीफ महसूस करते हैं, अन्य लोग आँख, हृदय या स्नायुतंत्र सम्बंधी जटिलताओं के शिकार भी बन जाते हैं। इस प्रकार की स्थितियों में युवाइटिस, रेटिनाइटिस, मायोकार्डिटिस, हैपेटाइटिस, नेफ्राइटिस, त्वचा के छालेदार विकृत, रुधिर स्राव, मैनिन्जो इन्सिफैलाइटिस, मायलाइटिस, 'गुलियनबरे' विकार एवं क्रोनियल नर्व पाल्सी आदि हो जाना संभव है। कुछ लोगों के फेफड़ों में जल संचय (प्ल्यूरल एफ्यूजन) या उदर में जल संभरण (एसाइटिस) होना भी संभव है।



कुछ रोगियों में जोड़ों और पेशियों के लक्षण ज्वर के कुछ महीनों के दौरान पुनः उभर आते हैं, जैसे पॉलीआर्थ्रल्टिजिया, पॉली आर्थराइटिस, टेनोसायनोवायटिस, आदि। शोध अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि लगातार बने रहने वाले जोड़ों के दर्द कई महीनों से कई वर्षों तक भी बने रहते हैं।

एक अच्छी खबर भी है – एक बार चिकुनगुनिया होने के बार व्यक्ति रोग से सदा के लिए संरक्षित हो जाता है। क्योंकि रोग का संक्रमण व्यक्ति की सहज प्रतिरक्षाप्रणाली को रोग के प्रति सक्षम बना देता है।

वायरस का प्रसार

चिकुनगुनिया वायरस एक व्यक्ति से दूसरे में, मादा एडीस मच्छर के काटने से पहुंचता है इसलिए आवासीय क्षेत्रों के आसपास मच्छरों का पनपना एक बड़ा खतरा बना रहता है।

बदनाम वाहक

एडीस परिवार की दो प्रजातियां – एडीस एल्बोपिक्टस तथा एडीजएजिप्टी – इस घातक वायरस को फैलाने के लिए जिम्मेदार है। संयोग की बात है कि ये ही मच्छर, डेंगू और जीका वायरस के भी वाहक हैं और छोटी काली और सफेद धारियों वाली टांगें और छोटी सफेद धारियों वाली धड़ इनकी खास पहचान हैं। दो से दस मिलीमीटर लम्बाई वाला एडीज एल्बोपिक्टस मच्छर काफी कुछ बाघ जैसा ही दिखाई देता है और साथ ही दक्षिण पूर्व एशिया के ऊष्ण कटिबंधी एवं अवरूष्णकटिबंधीय क्षेत्रों में पाये जाने के कारण 'एशियन टाइगर' मच्छर कहलाता है।

एडीज एजेप्टी मच्छर जैसे तो ऊष्ण कटिबंध एवं अवरूष्ण कटिबंधों तक ही सीमित हैं किंतु 'एडीज एल्बोपिक्टस शीतोष्ण एवं ठंडे तापमान वाले क्षेत्रों में भी पनपता है। पिछले कुछ वर्षों में एडीज एल्बोपिक्टस, एशिया से अफ्रीका, यूरोप और अमेरिका के अनेक क्षेत्रों तक अपनी पहुंच बना चुका है।

एडीज एल्बोपिक्टस मच्छर जलभराव वाली कई जगहों पर पनपने लगता है। जैसे – नारियल के खोल, बांस के खोखले टूटों, पेड़ों के कोटरों, मिट्टी के बीच गड्ढों और साथ ही खाली पड़े टायरों तथा गमलों के नीचे रखे बर्तनों में। इस तरह के विविध आवासों की अनुकूलता के कारण एडीज एल्बोपिक्टस ग्रामीण और कस्बाई इलाकों के साथ आराम से नगरों के छायादार पार्कों में पनप जाता है।



एडीजएजेप्टी मच्छर मनुष्यों के आवासीय इलाकों में अधिक पैठ बनाता है और घरों के भीतरी हिस्सों को ज्यादा पसंद करता है जैसे गुलदान, पानी भरने के बर्तनों और कंक्रीट की पानी की टंकियां आदि। साथ ही एडीजएल्बो पिक्टस की तरह बाहरी जलभराव भी इसे पनपने का अवसर देते हैं।

इन दोनों प्रजातियों के अतिरिक्त एडीज परिवार के अन्य कुछ सदस्य अफ्रीका में चिकुनगुनिया के वाहक की तरह काम करते हैं। वे हैं – 'एडीज फर्सीफर-टेलरी' एवं 'एडीजल्यूटोसेफेलस', चिकुनगुनिया के वाहक हैं। जानने की बात यह है कि कुछ पशु, जिनमें नॉन-प्राइमेट भी सम्मिलित हैं, कृन्तक, चिड़ियां एवं छोटे स्तनपायी भी रोग के भंडार हो सकते हैं, ऐसा प्रमाणित हो चुका है।

मच्छर की दंश प्रकृति

एडीज एजेप्टी और एडीज एल्बोपिक्टस ऐसे मच्छर हैं जो दिन में काटते हैं और खासतौर पर इनका प्रिय देशकाल है – सुबह सवेरे और देर दोपहरी। ये दोनों ही घर के बाहर आक्रमण कर सकते हैं किंतु एडीज एजेप्टी मजे से घरों के भीतर भी आघात करता है।

दंश से ज्वर तक

संक्रमित मच्छर द्वारा काटे जाने और वायरस द्वारा शरीर में चिकुनगुनिया की पहुंच के बाद अक्सर चौथे से आठवें दिन के बीच ज्वर उभर आता है। मच्छर के काटने से लेकर बुखार होने तक का समय जो उद्भवन अवधि (इन्क्यूबेशन पीरियड) कहलाता है – दो से बारह दिन तक का हो सकता है।

संक्रमण की अन्य स्थितियां

चिकुनगुनिया संक्रमण जैसे तो संक्रमित एडीज मच्छर के काटने से ही होता है किंतु महामारी के दौरान यह रोग अन्य माध्यमों से भी फैलने लगता है, जैसे कि रुधिर जनित संक्रमण। ऐसे मामले देखे गए हैं जहां प्रयोगशाला के लोगों को संक्रमित रक्त का परीक्षण करते हुए या स्वास्थ्य सेवा कर्मचारी को संक्रमित व्यक्ति का रक्त, परीक्षण हेतु लेते हुए अथवा किसी रोगी को संक्रमित रक्त चढ़ाते हुए इन सभी स्थितियों के परिणाम स्वरूप चिकुनगुनिया हुआ।

गर्भकाल में संक्रमण, जो कम ही होता है ऐसा दूसरी तिमाही में ही देखा गया है। प्रसव के दौरान माता यदि वायरायमिक (रुधिर स्राव में वायरस अंश के प्रति संवेदनक्षम) हो तो प्रसव काल में नवजात शिशु संक्रमित हो सकता है। जैसे इस रोग का वायरस माता के दुग्ध में नहीं पाया गया है अतः माँ के चिकुनगुनिया ग्रस्त होने पर भी उसके शिशु का स्तनपान के कारण रोग संक्रमित होना संभव नहीं है।

जोरिखम काल

रोगग्रस्त व्यक्ति द्वारा मच्छर में वायरस संक्रमण या रुधिर के माध्यम से संक्रमण उस समय उच्चस्तर की संभावना युक्त होता है जब व्यक्ति बीमारी के पहले सप्ताह के दौरान वायरस विषाणु से ग्रस्त होता है।

रोगनिदान

चिकुनगुनिया के रोग लक्षण डेंगू एवं जीका जो इन्हीं मच्छरों द्वारा फैलते हैं, के समान ही होते हैं। इसी कारण चिकित्सक सुनिश्चित रोगनिदान के लिए कुछ खास रुधिर परीक्षण करवाने का परामर्श देते हैं।

परीक्षण के अनेक तरीके अपनाने संभव हैं। रोग संक्रमण के पहले कुछ दिनों में, रुधिर से वायरस की अलग पहचान की जा सकती है। अनेक रिवर्स ट्रांसक्रिप्टेज पॉलीमरेस चेन रिएक्शन (RT-PCR) विधियां उपलब्ध हैं। किंतु वे विविध रूप से संवेदन क्षम हैं, कुछेक रोगनिदान में उपयुक्त हैं। रोगनिदान हेतु लिए गए नमूनों के RT-PCR उत्पाद, वायरस के जीनपरक संज्ञान के लिए भी कारगर होते हैं – जिससे विविध भौगोलिक माध्यमों से लिए गए वायरस के नमूनों से उनका सापेक्ष अध्ययन किया जा सकता है।

सीरमी परीक्षणों, जैसे कि एन्जाइम लिंकड इन्स्यूनो सॉरबेन्ट असेज (ELISA) से IgM एवं IgG प्रति-चिकुनगुनिया प्रतिपिण्डों (एण्टीबॉडीज) की उपस्थिति की संपुष्टि संभव है। रोगग्रस्त होने के 3 से 5 सप्ताह बाद IgM प्रतिपिण्ड अपने उच्चतम स्तर पर होते हैं तथा लगभग 2 माह तक बने रहते हैं। रोगलक्षण उभरने के पहले सप्ताह के भीतर लिए गए रोगी के नमूनों का परीक्षण, सीरमी तथा वायरस सम्बंधी (RT-PCR) दोनों माध्यमों से किया जाना चाहिए।

उपचार

सामान्य तथ्य

चिकुनगुनिया वायरस के निरोध के लिए अभी तक कोई विशिष्ट उपचार विधि उपलब्ध नहीं है।

उपचार मुख्यतः रोग लक्षणों के उपशमन पर ही केन्द्रित रहता है। रोगी को पर्याप्त विश्राम करना चाहिए तथा निर्जलीकरण से बचने के लिए काफी तरल पदार्थ भी लेने चाहिए। बुखार और दर्द से राहत पाने के लिए पैरासिटामोल अथवा एसेटामाइनोफिन ली जानी चाहिए। एस्पिरिन एवं अन्य नॉन स्टेरॉयडल एण्टी इन्फ्लेमेटरी ड्रग्स (NSAIDs) तब तक नहीं लेनी चाहिए, जब तक डेंगू की अनुपस्थिति की पुष्टि न हो जाए अन्यथा रुधिरस्राव की आशंका बनी रहती है।

जोड़ों का दर्द

जोड़ों में लगातार दर्द बने रहने पर NSAIDs, कॉर्टिकोस्टेरोइड, या फिर फिजियोथैरेपी का सहारा लिया जा सकता है।

मच्छरों के काटने से अपना बचाव करें

चिकुनगुनिया हो जाने पर पहले सप्ताह के दौरान स्वयं को मच्छरों के दंश से बचाएं। संक्रमण के पहले सप्ताह के दौरान रक्त में चिकुनगुनिया वायरस की

उपस्थिति संभव है एवं एक रोगग्रस्त व्यक्ति से काटने वाले मच्छर में उसका संक्रमण भी संभव है। वही संक्रमित मच्छर दूसरे नीरोगी व्यक्ति तक चिकुनगुनिया संक्रमण पहुंचा सकता है।

बचाव विधि

चिकुनगुनिया के लिए किसी प्रकार का टीका या संक्रमण रोधी औषधि उपलब्ध नहीं है। चिकुनगुनिया से बचाव का सर्वश्रेष्ठ तरीका है स्वयं को मच्छरों के दंश से बचाना।

यात्रा करने से बचें

यात्रा करने वाले लोगों में रोग के उग्र स्वरूप में बदल जाने की आशंका बनी रहती है। खासतौर पर वे यात्री जो स्वास्थ्य सम्बंधी समस्याओं से ग्रस्त हों एवं वे महिलाएं जो गर्भावस्था के अंतिम चरण से गुजर रही हों। ऐसे लोगों को चिकुनगुनिया संवेदी इलाकों में जाने से बचना चाहिए। यात्रा करनी यदि ज़रूरी ही हो जाए तो मच्छरों से बचाव के यथासंभव उपाय अपनाने चाहिए।

रोग की आशंकायुक्त स्थानों में जाने वाले यात्रियों को खास ध्यान रखना चाहिए कि शरीर को पूरी तरह ढकने वाले लम्बी बाहों के वस्त्र और पेंट पहनें तथा यह ख्याल रखें कि जिन कमरों में वे ठहरें वहां मच्छरों से बचाव के लिए खिड़कियों दरवाजों पर जाली लगी हो। दोपहर में आराम करने वाले, खासकर छोटे बच्चे, बीमार और बूढ़े लोगों के लिए कीट-बचाव युक्त मच्छर दानियों का प्रयोग करना उचित है।

मौस्किवटॉ रिपेलेंट, काँइल और कीटनाशक वेपोराइज़र

रिपेलेंट को खुली त्वचा या कपड़ों पर इस्तेमाल किया जा सकता है। रिपेलेंट में, DEET (N, N-diethyl-3-methylbenzamide), IR3535 (3-[N-

acetyl-N-butyl]-aminopropionic acid ethyl ester), या icaridin (1-piperidinecarboxylic acid, 2-(2-hydroxyethyl)-1-methylpropylester) होने ज़रूरी हैं। मच्छर भगाने वाले काँइल या फिर कीटनाशक युक्त वेपोराइज़रों से भी घर के भीतर मच्छरों से बचाव हो सकता है।

सामुदायिक स्तर पर बचाव एवं नियंत्रण

मुनुष्यों के आवासीय इलाकों के नजदीक रोगवाहक मच्छरों के पनपने की जगहों का होना चिकुनगुनिया का महत्वपूर्ण कारण बन सकता है। बचाव और नियंत्रण के लिए यह ज़रूरी है कि ऐसी जगहों का संज्ञान लिया जाये जहां – जलभराव और मच्छरों की उपस्थिति संभव हो, तथा उन्हें यथासंभव कम किया जाना चाहिए। इसके लिए प्रभावित जनसमूह से सभी को साथ लेकर सभी प्रभावी कदम उठाए जाने चाहिए। रोग के महामारी रूप लेने पर उड़ने वाले मच्छरों पर कीटनाशकों का छिड़काव, जलभराव वाली जगहों पर लार्वा को अपरिपक्व स्थिति में ही खत्म करने वाली दवा का उपयोग, पानी भरने के स्थानों में अंदर बाहर मच्छरों के विकास को रोकने वाली औषधियों का छिड़काव, आदि इसमें सहायक हो सकते हैं।



(अनुवाद: कुंकुम जोशी) ■

रक्त वर्षा का रहस्य (पृष्ठ 12 का शेषांश)

नहीं मिलती। वास्तव में ट्रेटीपोहलिया एनुलैटा एक यूरोपीय प्रजाति है जिसकी जानकारी सबसे पहले केवल ऑस्ट्रिया से मिली थी।

हमारी जांच का अगला कदम था हमारे विलगन पदार्थ के अतिसूक्ष्म आकृति विज्ञान की ऑस्ट्रिया के पदार्थ के अतिसूक्ष्म आकृति विज्ञान से तुलना करना। इसके लिए हमने ऑस्ट्रिया के सॉल्लजबर्ग विश्वविद्यालय के प्रोफेसर स्टॉकर वॉरगॉटे और डॉ. क्रिस्टीना हेमेटनर का सहयोग प्राप्त किया। दोनों विलगनों में सटीक वर्गीकरण द्वारा उचित अक्षरों के साथ समान, अविभेद्य आकृतिक लक्षण थे जिससे पहचान की पुष्टि होती थी। रक्त वर्षा के बारे में हमारे अध्ययन ने एक वैज्ञानिक सपष्टीकरण की खोज की और यह स्पष्ट किया कि रक्त वर्षा कुछ नहीं है, बस एक व्यापक क्षेत्र में अपने बीजाणुओं (पौधों के बीजों के समान) को फैलाने हेतु इस शैवाल द्वारा नियोजित एक तंत्र है ताकि यह जल्दी से एक बड़े क्षेत्र में फैल सके। शैवाल के बीजाणुओं का लाल रंग बीटा-कैरोटीन वर्णक के कारण होता है। गाजर को भी यही वर्णक रंग देता है। टी. एनुलैटा हानिरहित है, और 'रक्त' वर्षा का जल शाकाहारियों के लिए भी पूरी तरह से पीने योग्य (मानव उपभोग के लिए उपयुक्त) है! यह अध्ययन फाइलोजेनेटिक्स एंड इवोल्यूशनरी बायोलॉजी (DOI: 10.4172/2329-9002. 1000144)

नामक पत्रिका में फरवरी 2015 के अंक में प्रकाशित हुआ था।

हमने ऑस्ट्रिया के टी. एनुलैटा के नमूने से अपने नमूने के विकास की तुलना करने के लिए मॉलिक्युलर (आणविक) फाइलोजेनेटिक्स का प्रयोग किया। हमारे परिणाम बताते हैं कि केरल की प्रजाति वास्तव में, ऑस्ट्रिया में हाल ही में आई प्रजाति है। एक शैवाल ऑस्ट्रिया से भारत कैसे आ सकता है? हमारी खोज इस बात की पुष्टि करती है कि यह प्रविष्टि संभवतः समुद्र के ऊपर चलते बादलों के माध्यम से हुई – अंतरमहाद्वीपीय प्रजातियों के प्रसार की एक परिघटना जो पहले बैक्टिरिया और कवक के लिए सूचित की गई थी, लेकिन शैवाल के बारे में ऐसी घटना की सूचना पहली बार मिली है। समुद्र के ऊपर बादलों का प्रसार अंतरमहाद्वीपीय उड़ानों के अनुरूप है, यूरोप में इस शैवाल के बीजाणु अरब सागर में प्रवाहित होने वाले बादलों के माध्यम से भारत में पहुंचते हैं। हो सकता है कि सबसे पहले ये बीजाणु अपने प्रसार के लिए बादलों में पहुंचते हैं। परंतु ये शैवाल बीजाणु युक्त निम्न समतापमंडल के बादल केरल जैसे पहुंच जाते हैं, इसकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं है। इसका संबंध दक्षिण-पश्चिम मानसून से हो सकता है, क्योंकि केरल ही ऐसा राज्य है, जहां दक्षिण-पश्चिम मानसून सबसे पहले पहुंचता है। पुनः

पूर्वी हवाएं (दक्षिण-पूर्व और उत्तर-पूर्व) एक क्षेत्र में अभिसरित होती हैं जिसे अंतर-ऊष्णकटिबंधीय अभिसरण प्रदेश (आई.टी.सी.ज़ेड) कहा जाता है, जो केरल और श्रीलंका के निकट स्थित है, यह इस रहस्य का एक अन्य संकेत हो सकता है। हमारा अगला कदम 'मेंटाजेनोमिक्स' नामक समान डी.एन.ए. अनुक्रम-आधारित तकनीक द्वारा उच्च क्षमता के वायुकण फिल्टरों का प्रयोग करके अंतरमहाद्वीपीय बादलों का विश्लेषण करना होगा, जो इन बादलों की पूरी सूक्ष्मजैविक विविधता को प्रकट करेगा। कौन जानता है कि बादल कौन से अन्य सूक्ष्मजीवों को एक जगह से दूसरी जगह लेकर जा रहे हैं। उदाहरण के लिए, यह शक्तिशाली मानव या वनस्पति रोगजनकों का अभिगमन भी हो सकता है। इस बारे में अभी तक किसी प्रकार की जांच नहीं की गई है।

फैलिक्स बास्ट ने एम.ई.एक्स.टी., जापान से मॉलिक्युलर फाइलोजेनेटिक्स में पी.एच.डी. की है और वे पंजाब के केन्द्रीय विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर हैं। वे रिजोनेंस एवं साइंस रिपोर्टर सहित कई लोकप्रिय भारतीय विज्ञान पत्रिकाओं के नियमित लेखक हैं और उन्होंने भारतीय जीवों पर चर्चित पुस्तक, क्रीचर्स ऑफ इंडिया, (भारत के जीव) का प्रकाशन भी किया है।

(अनुवाद: विमला भट्ट) ■

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियां



बिमान बसु

ई-मेल: bimanbasu@gmail.com

विश्व का सबसे छोटा ट्रांजिस्टर निर्मित

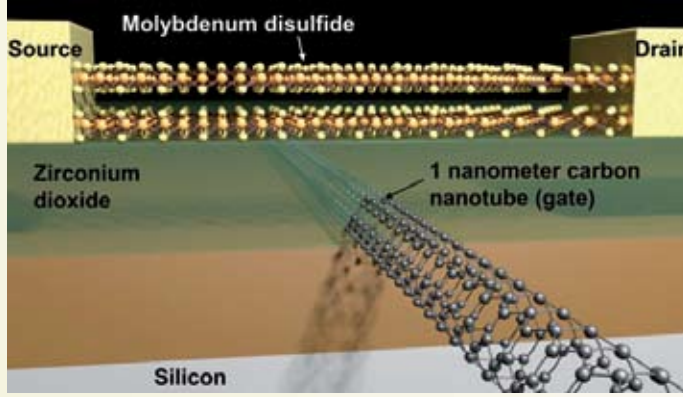
यू. एस. ऊर्जा विभाग की लारेंस बर्कले राष्ट्रीय प्रयोगशाला के एक अनुसंधान दल ने विश्व का सबसे छोटा ट्रांजिस्टर निर्मित किया है जो एक नैनोमीटर के गेट पर कार्य करता है। तुलना के लिए बताएं, मानवों के एक बाल की मोटाई 80,000 से 100,000 नैनोमीटर के बीच होती है। अन्वेषकों ने यह उपलब्धि चिप्स बनाने के लिए पारंपरिक रूप से उपयोग किए जाने वाले सिलिकन के बजाए संक्रमण धातु डाइकैल्कोजेनाइड, अथवा TMD नामक अर्द्धचालक पदार्थों के एक नए वर्ग का उपयोग करके प्राप्त की है (साइंस, 7 अक्टूबर 2016/DOI:10.1126/science.aah.4698)।

फील्ड इफेक्ट ट्रांजिस्टर में तीन सिरे होते हैं: एक सोर्स (स्रोत), एक ड्रेन (निर्गम) और एक गेट। धारा स्रोत से निर्गम की ओर प्रवाहित होती है और इसके प्रवाह का नियंत्रण गेट द्वारा किया जाता है जो लगाई गई वोल्टता के अनुसार खुलता और बंद होता है। किसी एकीकृत परिपथ (IC) में ट्रांजिस्टर के गेट की लम्बाई उसकी वह न्यूनतम लक्षण साइज होती है जिस पर संधि से होकर गुजरने वाली धारा का प्रवाह निर्भर करता है। यदि न्यूनतम लक्षण साइज को कम किया जा सके तो इसका तात्पर्य होगा कि ट्रांजिस्टर गेट की लम्बाई को प्रभावी रूप से कम किया जा सकेगा और ट्रांजिस्टर के समान वैद्युत गुणधर्मों के बावजूद उसकी लम्बाई को कम किया जा सकेगा। ऐसा होने पर समान उद्देश्य के लिए इसमें प्रवाहित होने वाली धारा और इस कारण ऊष्मा क्षय कम हो जाएगा।

एकीकृत परिपथ इलेक्ट्रॉनिक परिपथों का एक समुच्चय होता है जिसमें उंगली के नाखून के साइज के क्षेत्र में प्रायः कई अरब ट्रांजिस्टर एवं अन्य इलेक्ट्रॉनिक अवयव समाहित रहते हैं। पारंपरिक सिलिकन आधारित (ICs) में, अभी तक प्राप्त न्यूनतम गेट लम्बाई लगभग 5 नैनोमीटर थी। 5 नैनोमीटर ट्रांजिस्टरों को सैद्धांतिक सीमा मानने का कारण यह था कि यदि साइज और कम किया जाता है तो सिलिकन क्वांटम टनलिंग इफेक्ट नामक एक प्रक्रम प्रभावी हो जाता है जिससे इलेक्ट्रॉन एक ट्रांजिस्टर से दूसरे पर छलांग लगाने लगते हैं, सिग्नल बेतरतीब हो जाता है और परिपथ भंग हो जाता है।

बर्कले अन्वेषकों जिनका नेतृत्व अली जैवी कर रहे थे तथा जिसमें स्नातक विद्यार्थी सुजय बी. देसाई

और उनके सहकर्मी शामिल थे, सिलिकन के स्थान पर कार्बन नैनोट्यूबों तथा मोलिब्डेनम डाइसल्फाइड (MoS_2) के एक संयुजन का उपयोग करके साइज अवरोध पर पार पा सके जिसका उपयोग कभी-कभी



1 नैनोमीटर कार्बन नैनोट्यूब गेट युक्त MoS_2 ट्रांजिस्टर
(साभार: सुजय देसाई)

इन्जिनो के स्नेहन के लिए किया जाता है। MoS_2 पदार्थों के एक ऐसे वर्ग से संबंधित है जिनकी LeD_3 , लेसरों, नैनोस्केल ट्रांजिस्टरों, सौर सेलों आदि में अनुप्रयोग की अपरिमित संभावनाएं हैं।

अन्वेषकों के अनुसार, क्योंकि MoS_2 में प्रवाहित होने वाले इलेक्ट्रॉनों को उच्चतर प्रतिरोध का सामना करना होता है उनके प्रवाह को कम गेट लम्बाई द्वारा नियंत्रित किया जा सकता है। MoS_2 को लगभग 0.65 नैनोमीटर मोटाई की परमाणुतः पतली चादरों के रूप में लाया जा सकता है और इसका परावैद्युतांक कम होता है जो विद्युत क्षेत्र में ऊर्जा को भंडारित करने की पदार्थ की क्षमता का माप है। ये दोनों ही गुण गेट लम्बाई को 1 नैनोमीटर से कम कर दिए जाने पर ट्रांजिस्टर में धारा के प्रवाह का नियंत्रण सुधारने में सहायता करते हैं। परीक्षण में, अन्वेषकों द्वारा निर्मित आदि प्रारूप युक्ति ने जिसमें MoS_2 को 1 नैनोमीटर चौड़ी कार्बन नैनोट्यूब के साथ संयुजित किया गया था – दर्शाया कि ट्रांजिस्टर प्रभावी रूप से इलेक्ट्रॉन प्रवाह को नियंत्रित करता है और इसमें ये टनलिंग प्रभाव के कारण अपवर्तित नहीं होते।

अन्वेषकों के अनुसार यह विकास इंटरनेट के सह-प्रवर्तक गार्डन मूर की यह भविष्यवाणी कि एकीकृत परिपथों में ट्रांजिस्टरों का घनत्व प्रत्येक दो वर्ष में दो गुना हो जाएगा जिससे हमारे लैपटॉपों, मोबाइल फोनों, टेलिविजनों एवं अन्य इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों

के निष्पादन में वृद्धि होती जाएगी, को जीवंत बनाए रखने की कुंजी हो सकता है। तथापि, वे चेतावनी देते हैं, "यह केवल संकल्पना का प्रमाण है। नई युक्ति के अनुप्रयोग व्यावहारिक बनाने और व्यावसायिक निर्माण के लिए बड़े स्तर की संरचना तकनीकों को विकसित करने में अभी कुछ समय लगेगा।"

माइक्रोप्लास्टिक प्रदूषण हमारे सागरों को नष्ट कर रहा है

पर्यावरण पर प्लास्टिकों का हानिकारक प्रभाव सुविदित है। प्लास्टिक प्रदूषण में शामिल है प्लास्टिक उत्पादों का पर्यावरण में संचयन, जिससे वन्य जीवन, वन्यजीव-पर्यावासों और मानवों पर बुरा प्रभाव पड़ता है। प्लास्टिकों को

लेकर मुख्य समस्या यह है कि वे जैवनिम्नीकरणीय नहीं होते; अर्थात्, वे आसानी से अपघटित नहीं होते और वर्षों तक ज्यों के त्यों बने रहते हैं (देखें ड्रीम 2047, जून 2016)। हाल ही तक यह माना जाता था कि प्लास्टिक अपशिष्टों के कारण क्षति केवल नदियों, जलाशयों एवं तटीय जलस्थलों तक ही सीमित थी। किन्तु अब यह लगता है कि पृथ्वी का कोई भी पारिस्थितिकी तंत्र प्लास्टिक प्रदूषण से नहीं बचा है। यूके के ब्रिस्टल एवं ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालयों के अध्ययन दलों के हाल ही के अध्ययनों में जो उन्होंने रॉयल रिसर्च शिप (RRS) जेम्स कुक पर रह कर दो स्थलों पर किए, उन्होंने यह पाया है कि माइक्रोप्लास्टिक के रूप में प्लास्टिक अपशिष्ट पहले से ही गहन सागरीय जीवन के लिए खतरा बना हुआ है।



दूधपेस्ट जिसमें माइक्रोबीड विद्यमान हैं। इस प्रकार के लघु प्लास्टिक कणों का उपयोग अनेक प्रसाधन उत्पादों में होता है (साभार: ज्योर्ज मायर/ग्रीनपीस)

माइक्रोप्लास्टिकों को ऐसे छोटे कणों के रूप में परिभाषित किया जाता है जो लम्बाई में 5 मिलीमीटर से छोटे होते हैं और इनमें अनेक प्रसाधन तथा परिमार्जक उत्पादों में पाए जाने वाले सूक्ष्म तंतु एवं माइक्रोबीड शामिल होते हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार माइक्रोप्लास्टिक जिनमें पॉलिएस्टर, नाइलोन तथा एक्रिलिक अपशिष्ट शामिल हैं समुद्र में कृत्रिम कपड़ों से बने वस्त्रों को धोने के प्रक्रम में पहुंचते हैं। मध्य एटलांटिक एवं दक्षिण-पश्चिम हिंद महासागर के दो स्थलों पर किए गए अध्ययनों में अन्वेषकों ने अनेक गहन सागरीय जीवों के शरीर के अन्दर प्लास्टिक माइक्रोफाइबर उपस्थित पाए। इन जीवों में 300-1800 मीटर गहराई में मौजूद हरमिट क्रेब, लोबस्टर तथा सी ककम्बर भी शामिल थे (साइंटिफिक रिपोर्ट्स, 30 सितम्बर 2016/doi:10.1038/srep.33997)। इन जंतुओं को रिमोट द्वारा चलने वाले एक जलगत वाहन का उपयोग करके पकड़ा गया था। यह खोज इतनी गहराइयों में जंतुओं द्वारा माइक्रोप्लास्टिक के अन्तर्ग्रहण का पहला प्रमाण प्रस्तुत करती है। इस अध्ययन के प्रमुख लेखक मिशेल टेलर के अनुसार, जो बात सबसे अधिक परेशान करने वाली है वह यह है कि ये माइक्रोप्लास्टिक गहन सागरों में प्रदूषण के भू-आधारित स्रोतों से हजारों मील दूर पाए गए थे।

माइक्रोप्लास्टिक लगभग उसी आकार के होते हैं जैसा कि 'सागरी बर्फ' जो कार्बनिक पदार्थों की बौछारें होती हैं जो जल की ऊपरी परतों से सागर की गहनता में गिरती हैं और जिसको खाकर अनेक समुद्री प्राणी जीवित रहते हैं। यू के के प्लाईमाउथ विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों के हाल ही में किए गए एक अध्ययन ने दर्शाया है कि घरेलू वाशिंग मशीन के प्रत्येक उपयोग से 7,00,000 से अधिक सूक्ष्म तंतु विमुक्त हो सकते हैं जिनमें से कई भवन अपशिष्ट जल के साथ जल-मल उपचार प्रक्रम से गुजरते हुए पर्यावरण में पहुंच जाते हैं। (मैरीन पाल्यूशन बुलेटिन, सितम्बर 2016 | DOI : 10-1016/g marpotbut 2016-09-025)। उनके अध्ययनों ने दर्शाया है कि संभवतः प्लास्टिक अपशिष्ट प्लाक्टों के मल के माध्यम से सागरों की गहराई में पहुंचने का रास्ता बनाता है। अध्ययनों ने दर्शाया है कि औसतन 6 किलोग्राम कपड़ों की मशीनी धुलाई में पॉलिएस्टर-कॉटन मिश्रित वस्त्रों से लगभग 1,37,951 तंतु, पॉलिएस्टर से 4,96,030 तंतु, तथा एक्रिलिक से 7, 28,789 तंतु विमुक्त हो सकते हैं।

प्लास्टिक अत्यंत लाभकारी पदार्थ है लेकिन यदि गहन समुद्री जलों में सागरी प्लास्टिक प्रदूषण, विशेषकर माइक्रोप्लास्टिक प्रदूषण बढ़ना जारी रहता है तो समुद्री जीवन पर इसके गंभीर परिणाम हो सकते हैं। यह महत्वपूर्ण है कि समुद्री पर्यावासों में प्लास्टिक एवं माइक्रोप्लास्टिक मलबों के संचयन को बेहतर अपशिष्ट निपटान विधियों तथा और अधिक तीक्ष्ण विकल्प अपना कर रोका जाए।

हाल ही में यू.के. सरकार ने घोषित किया है कि

वह 2017 के अंत तक अनेक प्रसाधन एवं परिमार्जक उत्पादों में पाए जाने वाले प्लास्टिक माइक्रोबीड्स पर प्रतिबंध लगा देगी। यह घोषणा हाऊस ऑफ कॉमन्स एन्वायरनमेंटल ऑडिट कमेटी की प्लास्टिकों द्वारा पर्यावरण क्षति संबंधी रिपोर्ट आने के बाद की गई है। पिछले वर्ष के अंत के दिवसों में अमरीकी प्रेजिडेंट बराक ओबामा ने उन दूथपेस्टों, छीलनकारी अथवा परिमार्जनकारी उत्पादों की बिक्री और वितरण को गैर कानूनी बनाने के एक बिल पर हस्ताक्षर किए थे जिनमें प्लास्टिक माइक्रोबीड्स का उपयोग होता है। यही समय है कि भारत सरकार भी इस समस्या पर ध्यान दे और इस बढ़ते हुए संकट का मुकाबला करने के लिए उपयुक्त कानून बनाए।

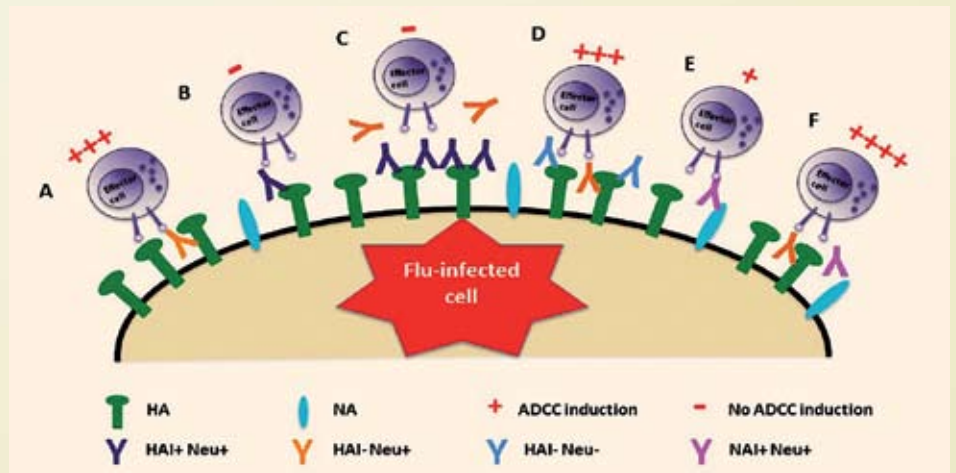
प्लू के एक सार्वत्रिक टीके की ओर

इन्फ्लुएंजा, जिसे सामान्यतः प्लू कहा जाता है, एक श्वसन संबंधी रोग है जो इन्फ्लुएंजा वायरसों द्वारा उत्पन्न होता है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के अनुसार अनुमानतः वर्ष भर में इस रोग से विश्व में 30 से 50 लाख लोग गंभीर रूप से प्रभावित होते हैं और इनमें से 2,50,000 से 5,00,000 लोगों की मृत्यु हो जाती है। हाल ही तक वायरस से प्रतिरक्षा की सर्वोत्तम विधि फ्लुशॉट्स थे किंतु यू.एस. के सेंटर्स फॉर डिजीज कंट्रोल एण्ड प्रिवेंशन (CDC) के अनुसार प्रतिवर्ष प्लू वैक्सीन कैसा कार्य करेगी यह इस बात पर निर्भर करता था कि जिस व्यक्ति को टीका दिया जा रहा है उसका स्वास्थ्य कैसा है और उम्र कितनी है, मौसमी वैक्सीन उपयोग में लाई जा रही है या अक्रिय वैक्सीन। इसका मुख्य कारण यह है कि प्रतिकृतिकरण के दौरान प्लू वायरसों के जीनों में मामूली परिवर्तन हो जाता है जिससे वायरस में भिन्न प्रतिजनी गुण आ जाते हैं जिनके कारण वैक्सीन अप्रभावी हो जाती है। अन्वेषक एक ऐसा सार्वत्रिक प्लू वैक्सीन विकसित करने का

प्रयास करते रहे हैं जो सभी प्लू वायरसों के विरुद्ध प्रभावी हो सके और प्लू की महामारी को होने से रोक सकें। कनाडा के मैक्मास्टर विश्वविद्यालय एवं दो अमरीकी विश्वविद्यालयों के वैज्ञानिकों का एक अंतरराष्ट्रीय दल अब एक ऐसे प्रभावी, एक बार दिए जाने वाले ऐसे सार्वत्रिक टीके के विकास के एक कदम निकट पहुंच गया है जो भविष्य में लाखों लोगों को मार डालने वाली महामारी से प्रतिरक्षित करेगा।

मौसमी प्लू का टीका जो प्रायः तीन या चार इन्फ्लुएंजा किस्मों के विरुद्ध संरक्षित करता है टीकाकरण के लगभग दो सप्ताह के भीतर शरीर में प्रतिपिंड विकसित करके प्रभावी होता है। ये प्रतिपिंड वायरस के साथ जुड़ जाते हैं और इसे कोशिकाओं को संदूषित करने से रोकते हैं। सार्वत्रिक टीके भी इसी प्रकार कार्य करते हैं, किन्तु वे इस प्रक्रम में संदूषित कोशिकाओं को नष्ट करने के लिए श्वेत रुधिर कणों को भी सम्मिलित कर लेते हैं। जबकि कुछ प्रतिपिंड तो ऐसे होते हैं जो सहकारी श्वेत रुधिर कणों को नियोजित करने में परस्पर सहयोग करते हैं। वहीं कुछ अन्य प्रतिपिंड इस प्रक्रम को अवरुद्ध करते हैं। अन्वेषकों ने जाना कि प्रतिपिंड वायरस के साथ कहां पर बंधित होते हैं इससे संपूर्ण प्रक्रम पर बहुत अंतर पड़ता है। (प्रोसीडिंग्स ऑफ द नेशनल एकेडेमी ऑफ साइंस, 3 अक्टूबर 2016/ DOI:10.1073/pnas.1609316113)

यह नया अनुसंधान मैक्मास्टर विश्वविद्यालय, कनाडा; इकाहन स्कूल ऑफ मेडिसिन, माउंट सिनाइ, न्यूयॉर्क तथा शिकागो विश्वविद्यालय, यू.एस.ए. के अन्वेषकों द्वारा किया गया। इसके लिए उन्होंने अपने एक पूर्ववर्ती अध्ययन को आगे बढ़ाया था जिसमें सर्वाधिक खतरनाक किस्म के इन्फ्लुएंजा वायरसों को समाप्त करने की क्षमतायुक्त नए प्रकार के प्रतिपिंडों की खोज की गई थी। अन्वेषकों के अनुसार, ये नए खोजे गए प्रतिपिंड, प्रतिवर्ष अपरिवर्तित रह जाने वाले



सार्वत्रिक प्लू वैक्सीन का अभिकल्पन ऐसे प्रतिपिंडों को उत्पन्न करने के लिए किया गया है जो वायरस के उस भाग को पहचान सकें जो प्रतिवर्ष अपरिवर्तित रह जाता है और इस प्रकार दीर्घकाल तक प्रभावी रह सकता है। (साभार: मैक्मास्टर विश्वविद्यालय)

वायरस अवयवों में कुछ के संसूचन के लिए प्रतिरक्षा तंत्र को प्रशिक्षित कर सकते हैं। जिससे आजीवन प्रतिरक्षात्मक प्रभाव युक्त, सिर्फ एक बार दिए जा सकने वाली वाले सार्वत्रिक पलू वेक्सीन के विकास का पथ प्रशस्त हो सकता है। ऐसा इसलिए है क्योंकि वायरस में चाहे परिवर्तन और उपपरिवर्तन हो इसका कुछ भाग तो पहचान योग्य रह ही जाता है जिससे प्रतिपिंड इसे पहचान लेता है और पलू के विरुद्ध सुरक्षा प्रदान कर देता है।

अध्ययन के प्रमुख लेखक मैथ्यू मिलर के अनुसार कुछ प्रतिपिंड तो परस्पर सहयोग द्वारा सहायक श्वेत रुधिर कोशिकाओं को नियोजित करते हैं वहीं कुछ अन्य उनके नियोजन को अवरुद्ध करते हैं और यह इस बात से निर्धारित होता है कि वे वायरस से कहां बंधित हुए हैं। “अब जबकि हम जान गए हैं कि प्रतिपिंड कहां पर संयुजित होते हैं, हम अपने टीकों को परिवर्धित कर सकते हैं ताकि वे उन प्रतिपिंडों को अधिक संख्या में उत्पन्न करें। इस ज्ञान का उपयोग करके अब हम अपने सार्वत्रिक टीके का अभिकल्पन कर सकते हैं ताकि सर्वाधिक वांछनीय प्रकार के प्रतिपिंड जनित कर सकें और उन प्रक्रमों को अवरुद्ध करने वाले प्रतिपिंडों से बच सकें जिनमें हमारी रुचि है। ऐसा करने में हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि टीका सर्वाधिक प्रभावी ढंग से कार्य करें।”

मानव दीर्घआयुता सीमा

कोई मानव अधिक से अधिक किस आयु तक जीवित रह सकता है? अभी हाल ही तक वैज्ञानिकों के पास इस प्रश्न का कोई निश्चित उत्तर नहीं था। हां, यह अवश्य ज्ञात था कि दीर्घजीविता का संबंध जीनों एवं अन्य कई कारकों से होता है। पृथ्वी पर कुछ सुदूर अवस्थितियों में रहने वाले लोगों के विषय में यह ज्ञात था कि वे अन्य स्थानों पर रहने वाले लोगों की तुलना में अधिक दीर्घजीवी होते हैं, किंतु मानव की दीर्घजीविता की सीमा ज्ञात करने का कोई तरीका नहीं था। अब अल्बर्ट आइन्स्टाइन कॉलेज ऑफ मेडिसिन, न्यूयॉर्क, यू. एस. ए के वैज्ञानिकों का एक दल आयु सीमा के लिए एक संख्या लेकर सामने आया है, उनके अनुसार, “मानवों की आयु 115 वर्ष से अधिक कभी भी नहीं हो सकती।” (नेचर, 5 अक्टूबर 2016; DOI:10-1038/nature19793)।

आयु सीमा का यह मान भ्रामक हो सकता है, क्योंकि, इस आयु से अधिक तक जीवित रहने वाले लोग रहे हैं। फ्रांस की जीन लुइस काल्मेंट अब तक सबसे अधिक आयु तक जीने वाला मानव रही हैं। 4 अगस्त 1997 को जब उनकी मृत्यु हुई तो उनकी पूर्णतः प्रमाणित आयु 122 वर्ष 164 दिन थी। विश्व भर में ऐसे 40 से अधिक व्यक्ति हैं जिनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि वे 115 वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहे हैं। अतः प्रश्न उठता है : वैज्ञानिक इस संख्या तक कैसे पहुंचे?



जीन काल्मेंट, जो 122 वर्ष से अधिक आयु तक जीवित रहीं और जो रिकार्ड के अनुसार आज तक की सबसे अधिक उम्र तक जीने वाली मानव रही हैं।

मानव जीवन-प्रत्याशा जन स्वास्थ्य, पोषण, पर्यावरण एवं अन्य क्षेत्रों में सुधार के कारण उन्नीसवीं शताब्दी से लगातार नियमित रूप से बढ़ी है। उदाहरण के लिए आज भारत में जो बच्चा पैदा होता है वह औसतन 65 वर्ष की आयु तक जीवित रहने की आशा कर सकता है जबकि 1947 में स्वतंत्रता के समय औसत आयु प्रत्याशा से तुलना करें तो यह केवल 32 वर्ष थी। जन्म के समय औसत आयु प्रत्याशा किसी भी अन्य देश की तुलना में जापान में सबसे अधिक बढ़ी है, आज यह 83 वर्ष है। जनसंख्या संबंधी प्रमाण दर्शाते हैं कि वृद्धावस्था मृत्यु दर घट रही है और मृत्यु के समय अधिकतम आयु का मान बढ़ रहा है जिससे धीरे-धीरे मानव दीर्घजीविता में वृद्धि हो सकती है। परिणामस्वरूप 1970 के दशक से, वह अधिकतम उम्र जिस तक वृद्ध लोग जीवित बने रह सकते हैं, बढ़ रही है। किंतु अल्बर्ट आइन्स्टाइन कॉलेज के अन्वेषकों के अनुसार, अधिकतम जीवन काल के

ऊपर की ओर चढ़ते इस ग्राफ की एक ऊपरिसीमा है और संभवतः हमने इसे पहले ही छू लिया है।

यह अध्ययन अल्बर्ट आइन्स्टाइन कॉलेज ऑफ मेडिसिन के वयवृद्धि विशेषज्ञ जान विज्ज और उनके स्नातक छात्रों ने किया था। 38 देशों के मानव मृत्यु दर डाटाबेस का उपयोग करके यू.एस. एवं जर्मनी के जनसंख्या विदों द्वारा संयुक्त रूप से किए गए इस अध्ययन में एक चार्ट में यह दर्ज किया गया कि किसी दिए गए वर्ष में किस-किस उम्र के कितने-कितने व्यक्ति जीवित थे। फिर उन्होंने यह परिकल्पित करने के लिए कि प्रत्येक उम्र की जनसंख्या में कितनी तेजी से वृद्धि हो रही थी, आंकड़ों की तुलना की और पाया कि समाज के जिस आयु वर्ग में सबसे अधिक जनसंख्या वृद्धि हो रही थी वे वृद्ध लोग थे। जब विज्ज और उनके छात्रों ने 40 देशों से प्राप्त आंकड़ों का अवलोकन किया तो उन्होंने यही प्रवृत्ति हर जगह पाई। उनके अनुसार, अधिकाधिक वृद्ध लोगों की जनसंख्या में वृद्धि की यह प्रवृत्ति 1980 के दशक में धीमी पड़नी शुरू हो गई और लगभग एक दशक पहले थम गई। अन्वेषकों के अनुसार, ऐसा संभवतः इसलिए हुआ है, क्योंकि मानवों ने अंततः अपनी दीर्घजीविता की ऊपरिसीमा को छू लिया है।

इस संभावना की आगे जांच के लिए, अन्वेषकों ने दीर्घजीवन के अंतरराष्ट्रीय डाटाबेस का विश्लेषण किया जिसमें उन 534 लोगों के संबंध में विस्तृत रिपोर्ट थी जो अत्यंत वृद्ध आयु तक जीवित रहे। डाटा को अच्छी तरह खंगालने के बाद विज्ज और उनके सहकर्मियों ने डाटाबेस के प्रत्येक व्यक्ति के मरने का वर्ष नोट किया और 1980 के दशक से प्रत्येक वर्ष कोई व्यक्ति किस अधिकतम आयु तक पहुंचा यह ज्ञात किया। उन्होंने जो परिणाम पाया वह भेद खोलने वाला था। 1968 में अधिकतम प्राप्त आयु 111 वर्ष थी; 1990 के दशक तक यह आंकड़ा बढ़ कर लगभग 115 हो गया। किन्तु फिर यह प्रवृत्ति भी थम गई। मिसेज काल्मेंट जैसे विरल अपवाद के अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति 115 वर्ष से अधिक आयु तक जीवित नहीं रहा था।

(अनुवाद: रामशरण दास) ■

लेख आमंत्रित है

ड्रीम 2047

विज्ञान प्रसार, अपनी मासिक पत्रिका ड्रीम 2047 के लिए विज्ञान लेखकों से लोकप्रिय विज्ञान पर मूल लेखों को आमंत्रित करता है। वर्तमान में इस पत्रिका के 50,000 से अधिक सदस्य हैं। अधिकतम 3000 शब्दों सहित लेख हिंदी या अंग्रेजी में भेजे जा सकते हैं। नियमित स्तंभों i) स्वास्थ्य ii) विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की अभिनव उपलब्धियों के लिए भी लेखों का स्वागत है। अगर लेख को प्रकाशन के लिए स्वीकार कर लिया जाता है तो विज्ञान प्रसार के मानक के अनुसार लेखक (कों) को मानदेय दिया जाएगा। अधिक जानकारी के लिए देखें www.vigyanprasar.gov.in या ई-मेल करें dream@vigyanprasar.gov.in

